'स्वाधीनता आंदोलन'

के संदर्भ में

'पथ के दावेदार' और 'कर्मभूमि' का तुलनात्मक अध्ययन

(एम. फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध)

शोध–निर्देशक

प्रो. मैनेजर पांडेय

शोधकर्ता

ज्योर्तिमय बामा

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली–110067

2005

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 8/7/ 2005

DECLARATION

I declare, that the work done in this dissertation entitled - " ***'Swadhinata Aandolan'*** **Ke Sandarbh Mein '*Path Ke Davedar*' Aur '*Karmabhumi*' Ka Tulnatmak Adhayan" (Comparative Study of 'Path ke Davedar' and 'Karmabhumi' in the context of Freedom Movement)** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

Name: **JOTIMAY BAG**
(Research Scholar)

PROF. MANAGER PANDEY
(Supervisor)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature
and Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
(Chairperson)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature and
Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, TEL.: (91-011) 26107676, 26167557 Extn.: 2217, Fax: (91-011) 26165886, 26106025

समर्पित

उनको जिनके कारण
हिंदी सीख पाया...

(भरी हुई है यह रोसो की प्याली झूल रही है डाली–डाली...)

अनुक्रमणिका

भूमिका i-iv

प्रथम अध्यायन : स्वाधीनता आंदोलन से शरतचंद्र और प्रेमचंद का संबंध 1–36

भाग – एक

(क) शरतचंद्र का जीवन और स्वाधीनता आंदोलन

(ख) शरतचंद्र का साहित्य और स्वाधीनता आंदोलन

भाग – दो

(क) प्रेमचंद का जीवन और स्वाधीनता आंदोलन

(ख) प्रेमचंद का साहित्य और स्वाधीनता आंदोलन

द्वितीय अध्याय : पथेरदाबी' और स्वाधीनता आंदोलन 37–57

तृतीय अध्याय : कर्मभूमि और स्वाधीनता आंदोलन 58–80

चतुर्थ अध्याय : 'पथेरदाबी और कर्मभूमि' 81–105

संदर्भ ग्रंथ सूची 106–111

भूमिका

अगर आप उत्तर भारत और पूर्वी भारत के समाज, संस्कृति (रहन–सहन, वेष–भूषा, खान–पान) आदि को देखना चाहते हैं तो प्रेमचंद और शरतचंद्र के कथासाहित्य पर दृष्टिपात कर लें। एक उत्तर भारत के कथा सम्राट हैं तो दूसरे पूर्वी भारत के। प्रेमचंद के साहित्य में उत्तर भारत की सामाजिक विषेषता – अपनी पूर्णता में साकार हो उठी है। एक तरफ जहां उन्होंने, उत्तर भारत के ग्रामीण परिदृष्यों का जीवन प्रतिबिंब अंकित किये हैं, वहीं उनके साहित्य में शहरी जीवन के मूर्त रूपाकार देखने को मिलता है। उनके पात्र प्रतिनिधि पात्र हैं, यानि उनकी कथाओं के पात्र समाज के किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। वहीं शरतचंद्र के पात्र वैयक्तिक विषेषताओं के साथ सामने आते हैं। शरतचंद्र मध्य वर्ग और उच्च मध्यवर्ग के कलाकार हैं।

प्रेमचंद ने किसान, अछूत, मजदूरों की समस्याओं को चित्रित किया है। शरतचंद्र मूलतः पारिवारिक समस्याओं के चित्रकार हैं। समाज के अवहेलित वर्गों के प्रति दोनों कलाकार की संवेदनात्मक दृष्टि थी।

ये भिन्नताएं होने के बावजूद दोनों महान कलाकार जिस मुद्दे पर एक दृष्टि रखते थे वो मुद्दा है 'स्वाधीनता आंदोलन' का स्वाधीनता प्राप्ति के मुद्दे पर दोनों लेखक सचेत थे और दोनों ही वैयक्तिक और रचनात्मक स्तर पर स्वाधीनता आंदोलन से जुड़े थे।

प्रेमचंद और शरतचंद्र दोनों लेखकों ने राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ–साथ सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति की आवश्यकता को भी समझा। प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में दोनों समस्याओं (क्रमशः राजनीतिक स्वतंत्रता और सामाजिक मुक्ति) का बराबर चित्रण किया है। वहीं शरतचंद्र ने अपने उपन्यासों में सामाजिक मुक्ति की आकांक्षा को ही अधिक चित्रित किया है। इस दृष्टि से प्रेमचंद के उपन्यासों में वर्णित समस्या का क्षेत्रफलक वृहद एवं विस्तृत है और शरतचंद्र का सीमित।

प्रेमचंद का मानना था कि राष्ट्रीय आंदोलन केवल साम्राज्यवादियों के विरूद्ध ही नहीं बल्कि सामंतवादी और पूंजीवादी शक्तियों के विरुद्ध भी समानांतर लड़ा जाए। प्रेमचंद के इस मत से शरतचंद्र भी सहमत थे। अतः दोनों के उपन्यासों में एक तरफ जहां स्वाधीनता प्राप्ति की आकांक्षा लिए व्यक्ति का चित्रण है वहीं दूसरी ओर सामाजिक बंधनों में तड़पते मुक्ति की ओर उन्मुख मनुष्य हृदय का भी चित्रण है।

शरतचंद्र के उपन्यासों में हम संस्कारों और विचारों के द्वन्द्व को देखते हैं, यह द्वंद्व नवजागरण की चेतना स्वरूप उदित हुआ है। नवजागरण की सांस्कृतिक चेतना ने बंगाल के नवयुवकों के विचारों को आंदोलित किया, किंतु पुराने संस्कारों की बेड़ियों से वे अभी भी पूर्णतः अपने आप को मुक्त नहीं कर पाए थे। नतीजतन संस्कारों और विचारों में द्वंद्व होता है। शरतचंद्र के पात्र इसी द्वंद्व को उद्‌घाटित करते हैं।

प्रस्तुत लघु शोध में चार अध्याय हैं। पहले अध्याय को दो खंडों में बांटा गया है। प्रथम खंड के दो विभाग हैं। प्रथम विभाग में शरतचंद्र के जीवन से स्वाधीनता

आंदोलन के संबंध को दिखाया गया है तथा दूसरे विभाग में स्वाधीनता आंदोलन से शरतचंद्र के रचनात्मक संबंधों को दिखाया गया है। क्रमशः इसी प्रकार प्रेमचंद के वैयक्तिक एवं रचनात्मक संबंधों को दूसरे खंडों में दिखाया है।

शोध के दूसरे अध्याय में 'पथेरदाबी' से स्वाधीनता आंदोलन के संबंध को दर्शाया गया है। इस अध्याय में 'पथेरदाबी' के सृजन का इतिहास को भी रेखांकित किया गया है जिसका संबंध युगीन शासनतंत्र से रहा है।

लघुशोध के तीसरे अध्याय में 'कर्मभूमि' और स्वाधीनता आंदोलन के संबंधों को दिखाया गया है। इस अध्याय में स्वाधीनता आंदोलन से संबंधित जिन प्रश्नों को प्रस्तुत उपन्यास में उद्घाटित किया गया है उस पर विचार किया गया है। 'कर्मभूमि' में किसान आंदोलन, दलित आंदोलन से जुड़े प्रश्नों को उद्घाटित किया गया है। इन आंदोलनों की पृष्ठभूमि में क्रमशः सन् 1928 तक के अंबेडकर आंदोलन, बारदोली के किसान आंदोलन के प्रभाव को देखा जा सकता है।

चौथे अध्याय में प्रेमचंद और शरतचंद्र की दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इसमें दोनों लेखकों की समाज और जीवन के प्रति दृष्टि और विचारों का उल्लेख किया गया है। साथ ही स्वाधीनता आंदोलन से संबंधित दोनों की दृष्टियों का भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

प्रेमचंद और शरतचंद्र जैसे श्रेष्ठ साहित्यकार पर तुलनात्मक अध्ययन करने की जिज्ञासा मेरे मन में 'प्रेसिडेंसी कॉलेज' में अध्ययन के दौरान जागृत हुई। जे.एन.यू. में शोध छात्र के रूप में डॉ. मैनेजर पाण्डेय के आशीर्वचन और उनसे इस विषय पर

गंभीर व विस्तृत चर्चा के जरिए यह शोध संभव हो सका। शोध के दौरान जहां भी मुश्किलें आईं गुरुवर की उचित सलाह और विविध प्रसंगों पर हुई बातचीत ने लगातार मुझे इस ओर प्रेरित किया कि मैं अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति संयम व धैय को बनाए रखते हुए शोध को पूर्ण कर सकूं।

विष्णु प्रभाकर जी से हुई बातचीत ने समय–समय पर मुझे इस शोध में सहायता प्रदान की व मेरा मार्गदर्शन किया। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरा फर्ज है। प्रो. सुब्रत लाहिरी का मैं सदा आभारी रहूंगा, जिन्होंने शोध संबंधी मेरी उत्सुकता को बढ़ावा दिया।

राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता, भाषा परिषद् तथा साहित्य अकादेमी के प्रति सदैव आभारी रहूंगा जहां से समय–समय पर दुर्लभ तथ्य एवं पुस्तकें मिलती रहीं।

विषय से संबंधित जिन मित्रों व लोगों ने मुझे सहायता प्रदान की उनमें अनिल कुमार पुष्कर, डा. सर्वेश सिंह, विवेकानंद उपाध्याय और राजीव रंजन सिन्हा का मैं सदा आभारी रहूंगा और शोध को अंतिम रूप देने में बहन नीलम और अंजू की मदद के लिए मैं शुक्रगुजार हूं।

ज्योर्तिमय
ज.ने.वि., नई दिल्ली

प्रथम अध्याय

स्वाधीनता आंदोलन से शरतचंद्र और प्रेमचंद का संबंध

भाग – एक

(क) शरतचंद्र का जीवन और स्वाधीनता आंदोलन

(ख) शरतचंद्र का साहित्य और स्वाधीनता आंदोलन

भाग – दो

(क) प्रेमचंद का जीवन और स्वाधीनता आंदोलन

(ख) प्रेमचंद का साहित्य और स्वाधीनता आंदोलन

भाग – एक

(क) शरतचंद्र का जीवन और स्वाधीनता आंदोलन

एक साहित्य स्रष्टा के अलावा शरत्चंद्र का संबंध राजनैतिक मंच से भी घनिष्ठ रूप से रहा है। वह एक सच्चे देशभक्त और कुशल नेता थे। उनके निधन पर शोक प्रकट करते हुए नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने कहा था कि भारतवर्ष ने केवल मात्र एक श्रेष्ठ साहित्यकार को ही नहीं खोया है, बल्कि कांग्रेस का एक शक्ति स्तंभ भी खो दिया है। हावड़ा–शिवपुर के इलाके के लोग आज भी शरत्चंद्र के जोशीले भाषण से परिचित हैं। सन् 1919 में जनरल डायर ने हजारों बेकसूर हिंदुस्तानियों को मौत के घाट उतार दिया। 'डायर' के इस कुकृत्य से संपूर्ण भारत वर्ष में स्वाधीनता आंदोलन तीव्र और उग्र हो उठा। महात्मा जी के नेतृत्व में पूरा भारतवर्ष संघर्षरत हुआ और पूर्ण स्वराज्य की मांग की। शरत्चंद्र इस महायुद्ध के एक योद्धा थे। वह भी पूर्ण स्वराज्य के पक्षधर थे। उनका मानना था – "भारत का शासनभार भारतीयों के हाथ में हीं रहना चाहिए और इस जिम्मेदारी से जो वंचित करता है वह अन्यायी है।"[1]

शरत्चंद्र हावड़ा जिले की कांग्रेस कमेटी के सभापति रह चुके थे। इसके अलावा वे बंग प्रादेशिक राष्ट्रीय समिति के भी सभापति रहे थे। निखिल भारत कांग्रेस कमेटी के गया अधिवेशन में भी शरत्चंद्र ने भाग लिया था। देश बंधु चित्तरंजन दास के साथ उनका घनिष्ठ संबंध था। 1923 में उन्होंने चित्तरंजन दास के साथ संगठित रूप से कार्य किया तथा कांन्फ्रेंसों में हिस्सा लिया था। मत एक न होने के कारण शरत्चंद्र ने कांग्रेस सभापतित्व के पद से इस्तीफा दे दिया। (14 जुलाई, सन् 1992

को)। 1936 में 'सांप्रदायिक बटवारा' के प्रति रवींद्रनाथ ने 'कलकत्ता टाऊन हॉल' में अपना विरोध प्रकट किया, उस प्रदर्शन में शरत्बाबू भी शामिल थे। 'टाऊनहॉल' में दिए गए भाषण में शरत्चंद्र ने कहा कि "नया शासन विधान शुरु से आखिर तक खराब है, उस असीम खराबी के अंदर बंगाल के हिंदू सबसे अधिक क्षतिग्रस्त हुए हैं, कानून की कील ठोंककर उन्हें सदा के लिए छोटा कर दिया गया है। फिर भी यह सच है कि देश के मुसलमान भाइयों को दस पंद्रह अधिक स्थान मिले हैं, इससे उनके प्रति हमारे अंदर क्रोध नहीं है। लेकिन जो लोग इस अन्याय के जनक हैं उनसे कहना चाहता हूं कि अन्याय, अविचार, एक आदमी के प्रति होने पर भी वह अकल्याणकार है, उससे अंत तक मुसलमान, हिंदू, जन्मभूमि किसी का कल्याण नहीं होगा।" (15 जुलाई, 1936) इसी उद्देश्य से बाद में 'एडवर्ड हॉल' में भी सभा का आयोजन किया गया, यहां शरत्चंद्र ने अपने 'टाऊनहॉल' में दिये गए वक्तव्य को आगे बढ़ाया – "नये शासन विधान में भारतवर्ष के हिंदू, विशेषकर बंगाल के हिंदुओं के प्रति जो अविचार किया गया है, इतना बड़ा अविचार दूसरा नहीं हो सकता। बहुतेरे लोग यह सोच सकते हैं कि इस अविचार के प्रतिवाद करने की क्षमता हमारे हाथ में नहीं है और यही सोचकर वे निश्चेष्ट रहेंगे, प्रतिवाद नहीं करेंगे लेकिन यह सच नहीं है। लेकिन अगर इस अन्याय को रोकने की क्षमता किसी में है तो हमी में है।... बंगला साहित्य को विकृत करने की एक हीन चेष्टा चल रही है, कोई कह रहा है कि संख्या के अनुपात में भाषा के अंदर इतने अरबी शब्दों का व्यवहार करें। कोई कह रहा है इतने फारसी शब्दों का व्यवहार करें और कोई कह रहा है कि इतने उर्दू शब्दों का व्यवहार करें, इसका कोई कारण नहीं है।

जैसे छोटे बच्चे के हाथ में चाकू पड़ते ही वह घर की सारी चीजों को काटता फिरता है यह भी वैसा ही है।... आज अगर वे समझते हैं कि ब्रिटिश सरकार ने उन्हें दे दिया, इसलिए मिला। एक दिन वे समझेंगे कि यह कितनी बड़ी भूल है।

मैं अपने मुसलमान भाईयों से कहता हूं कि तुम लोग संस्कृति पर नजर रखना, साहित्य पर नजर रखना। छोटे बच्चों की तरह हाथ में तेज चाकू पाकर सब कुछ काट मत डालना।

मेरा मत है कि अन्याय को अस्वीकार करना चाहिए, यथा साध्य प्रतिकार करना चाहिए। इसी से मनुष्य बनता है। हमारे ऊपर यह जो अन्याय हो रहा है उसका प्रतिकार करना ही होगा। अगर नहीं कर सकते तो दस साल के बाद बंगाली आज जिस बात को लेकर गौरव करते हैं, उसका कुछ भी नहीं रहेगा। इसलिए मेरी तुच्छ शक्ति से जितना बन पड़ेगा मैं इस अन्याय का प्रतिवाद करूंगा। क्योंकि इस अन्याय को चलने दिया जाये तो देश के हिंदू–मुसलमान किसी का कल्याण नहीं होगा।"[2] वक्तव्य से स्पष्ट ध्वनित होता है कि शरत्चंद्र सांप्रदायिकता, देश की संस्कृति, साहित्य के प्रति कितने सचेत हैं। उनके भाषण से न केवल युगीन राजनीति बल्कि साहित्य और संस्कृति में भी चल रहे षड्यंत्र का पता चलता है। अंग्रेज न केवल भौगोलिक बल्कि, भाषा और संस्कृति में भी हिंदू मुसलमानों में भेद पैदा करने की कोशिश कर रहे थे।

सन् 1920–35 तक का समय कांग्रेस की दृष्टि से भी काफी महत्वपूर्ण है। 'कुटीर शिल्प' तथा 'असहयोग आंदोलन' इसी समय की देन है। शरत्चंद्र इस समय

के साक्षी थे। 1890 के एक सर्वेक्षण में स्वीकार किया गया है कि काष्ठ शिल्प तथा पीतल के बर्तन आदि गढ़ने, चटाई बुनने और मिट्टी के बर्तन बनाने के कामों के अलावा बंगाल के सभी दस्तकारों की अवनति हो रही थी।[3]

स्वदेशी आंदोलन का एक पहलू देश के अर्थ व्यवस्था से जुड़ा है और दूसरा दस्तकारों के जीवन से। बंगाल में दस्तकार अधिक थे। इनका मुकाबला सीधा विदेशी 'मशीनी' माल से था। अतः इनकी अवनति होनी स्वाभाविक थी। ब्रिटेन के पूंजीपतियों ने बंगाल में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। भारतीय अर्थव्यवस्था पर अब विदेशी व्यापारियों का पूर्ण नियंत्रण था। ऐसी व्यवस्था से क्षुब्ध होकर आंदोलनकारियों ने विदेशी माल का 'बॉयकॉट' किया। बंगाल में कई जगह विदेशी सामनों की होली जलाई गयी। "अपने 'संजीवनी नामक मुख पत्र में कृष्ण कुमार मिश्र ने जनता का आह्वान किया, जिसका नारा, फ्रांसीसी क्रांति के प्रसिद्ध नारे के समान 'स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व' का था। साथ ही उन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार एवं स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने के लिए जनता का आह्वान किया।[4]

बंगाल समेत संपूर्ण भारतवर्ष में स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन को काफी लोकप्रियता मिली। लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि गीतों, नाटकों एवं जात्रा तक में इसकी चर्चा मिल जाती थी। इस प्रकार महात्मा जी द्वारा चलाया गया आंदोलन बंगाल से होता हुआ पूरे देश को प्रभावित कर रहा था।

शरत्चंद्र मात्र नारेबाजी के पक्षधर नहीं थे। उन्हें इस बात का भलीभांति इल्म था कि मात्र नारे बाजी से कुछ भी मिलने वाला नहीं है। कुछ पाने के लिए परिश्रमी

और कर्मठ बनना अतिआवश्यक है। अपने भाषणों में शरत्चंद्र स्पष्ट कहते हैं कि "केवल वंदेमातरम और महात्मा की जय बोलने से केवल गला फटेगा। पराधीनता की शिला केवल उतने से सुई भर भी नहीं हिलेगी।"[5]

शरत्चंद्र हिंसावाद के समर्थक नहीं थे। उग्रवाद को वह पसंद नहीं करते थे, किंतु यह भी सत्य है कि उनके मन में उग्रपंथी विप्लवियों के प्रति अपार श्रद्धा थी। ऐसे विप्लवियों से वह मिलने तथा समय–समय पर उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करने में काफी रूचि लेते थे। कभी आलू बेचने वाला बनकर तो कभी भिखारी बनकर तो कभी कुछ बनकर ये विप्लवी उनसे अकसर मिलने आते थे, और शरतचंद्र भी अपने यथासाध्य उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। यदि कोई शरत्चंद्र से पूछता था कि आप हिंसावाद के समर्थक हैं या नहीं, तो शरत्चंद्र कहते थे "राजनीति और आदर्श में शायद अंतर हो सकता है लेकिन राष्ट्र के लिए जो लोग कार्य कर रहे हैं, उन सभी को मैं श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूं। चाहे वह विप्लवी हो अथवा हिंसावादी। दोनों ही मेरे लिए श्रद्धा के पात्र हैं।"[6]

नारी अधिकारों के प्रति शरत्चंद्र काफी सचेत थे उनके अनुसार नारी मुक्ति के बगैर देश की मुक्ति की कामना बेकार है। अधूरी है। अपनी कहानियों एवं उपन्यासों में शरत्चंद्र ने नारी अधिकारों, नारी मुक्ति के प्रश्नों को ही अधिकतर चित्रित किया है। उनका मानना है कि नारी मुक्ति के बगैर देश की आजादी अधूरी है। वे कहते हैं, "जिस चेष्टा, जिस आयोजन में देश की लड़कियों का हाथ नहीं है, सहानुभूति नहीं है, उन्हें घर के कोने में बंद कर, केवल चरखा कातने के लिए बाध्य करके इतनी बड़ी

वस्तु को प्राप्त नहीं किया जा सकता। लडकियों को हम लोगों ने केवल लड़की बना रखा है, आदमी नहीं बनने दिया है।"[7] 'विप्रदास' में शरत्चंद्र ने नारी शिक्षा का पूर्ण समर्थन किया है। उनके अनुसार स्त्रियों को भी शिक्षा और स्वाधीनता की आवश्यकता है। स्त्री होने पर भी वे हैं तो मनुष्य ही लिहाजा शिक्षा और स्वाधीनता पर उनका हक है। मूर्ख रखकर उन्हें घर में बंद रखना अन्याय है। [8]

शरत्चंद्र ने विदेशी शिक्षा का कभी विरोध नहीं किया है। बल्कि विदेशी शिक्षा से आयी जागरुकता, अपने अधिकारों के प्रति सजगता की प्रशंसा की है, किंतु उसकी बाहरी चमक–दमक की आलोचना की है। जाति संप्रदाय या धार्मिक संकीर्णता के स्थान पर उन्होंने इंसानियत को महत्व दिया है। विप्रदास का एक पात्र कहता है "अपने भाषणों में अकसर कहा करता हूं कि रियल (वास्तविक) सॉलिड (ठोस) शिक्षा चाहिए। धोखे–बाजी, ठगी नहीं। आपको एक बार यूरोप आना चाहिए। वहां की जलवायु, वहां की फ्री एअर (मुक्तवायु) में सांस लिए बिना हृदय में फ्रीडम (स्वतंत्रता) नहीं आती। बुरे संस्कारों में मन मुक्त नहीं हो सकता। मैं पूरे पांच वर्ष तक उस देश में रहा हूं।"[9] हम विदेशी शिक्षा का अर्जन अवश्य करेंगे किंतु विदेशी बनकर नहीं स्वदेशी रहकर ही। शरत् बाबू का विरोध ऐसी शिक्षण पद्धति से है जो शिक्षा के जरिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शासन कर रहा हो। उनका स्पष्ट मानना है कि हम स्वदेशी रहकर भी विदेशी शिक्षा का अर्जन कर सकते हैं। शरत् बाबू उन बंगाली भद्रलोक पर क्रोधिक होते हैं जो विदेशी शिक्षा का अध्ययन करते–करते स्वयं भी विदेशी हो चले हैं। वे ऐसी शिक्षण पद्धति के हिमायती हैं जो सर्वसुलभ हो। उन्हीं के शब्दों में "दुःख कभी न दूर

होगा जब तक उस शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जा सकती, जिससे देश का बर्हिमुखी वीतश्रमपन फिर अंतर्मुखी और आत्मस्थ नहीं होता। क्या मन का मिलन, क्या शिक्षा का मिलन, यह केवल बराबरी वालों के ही आदान–प्रदान से हो सकता है, इस तरह कंगालों की तरह, भिखमंगों की तरह कभी नहीं हो सकता। होने पर भी यह एक धोखेबाजी होगी। उसमें कल्याण नहीं होगा, गौरव नहीं होगा। इससे देश को केवल हीनता और लांछन ही मिलेगा, मनुष्यत्व कभी न मिलेगा।[10] शरत्चंद्र अंग्रेजी शिक्षण पद्धति पर पैनी निगाह रखे हुए थे, वे इसके फायदे–नुकसान को भी भलीभांति समझ रहे थे। उन्हें पता था कि अंग्रेजी स्कूलों में भारतीय शिक्षण पद्धति से पढ़ाया नहीं जाएगा क्योंकि यह उनके हित में नहीं होगा। वे कहते हैं, "हमारे ऋषि वाक्य कितने ही अच्छे क्यों न हो, वे नहीं स्वीकार करेंगे, क्योंकि इसकी उन्हें जरूरत नहीं। यह उनकी सभ्यता का विरोधी है और वे अपनी शिक्षा हमें नहीं देगें यह बात सुनने में बुरी भले ही लगे पर है सत्य। और देने पर भी जो भिक्षा है उसे न लेना ही अच्छा है और हमारी सभ्यता के अनुकूल नहीं है तो वह केवल व्यर्थ नहीं है कूड़ा भी है। उनकी तरह हम अगर दूसरों को मारना नहीं चाहते, दूसरे के मुंह का कौर खा जाने को ही अगर चरम सभ्यता नहीं समझते तो मारण मंत्र कितना भी सत्य कयों न हो, उसके प्रति निर्लोभी होना ही अच्छा लगता है।[11]

अपने भाषणों में शरत् बाबू ने पश्चिमी सभ्यता की जमकर आलोचना की है। शरत्चंद्र का विरोध उस सभ्यता से है जो जबर्दस्ती भारतीयों पर लादी जा रही है। उन्नत बनाने का ढोंग रचाकर दरअसल अंग्रेज अपने शासन की जंजीरों को और कस

रहे हैं। वे कहते हैं कि पश्चिमी सभ्यता हमारे मुंह के निवाले को छीन कर ले जा रही है। शरत्चंद्र जी चरखा कातते थे किंतु उनके चरखा कातने का कारण अर्थोपार्जन नहीं था, न ही उन्हें अपने स्वदेशी भाव सबको दिखाना था। वे चरखा गांधी जी के प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेम दर्शाने के लिए कातते थे। इस बात को उन्होंने स्वयं महात्मा जी के समक्ष स्वीकार किया है। स्वदेशी चरखे में नहीं बसा है स्वदेशी एक भाव है जो हृदय के अंदर बसा होना चाहिए।

(ख) शरत्चंद्र का साहित्य और स्वाधीनता आंदोलन :

शरतचंद्र की अधिकतर रचनाएं पारिवारिक समस्याओं पर ही केंद्रित रही हैं। स्वतंत्रता का अर्थ शरत्चंद्र की दृष्टि में रूढ़ संस्कृति से स्वतंत्र होना है, अंधविश्वासों से स्वतंत्र होना तथा जर्जर हो चली हिंदू परंपराओं से स्वतंत्र होना है। इसलिए शरत्चंद्र के पात्र को हम सामाजिक बंधनों के विरुद्ध विद्रोह करते हुए पाते हैं। किंतु फिर भी राजनीतिक स्वतंत्रता उस युग की मांग थी, शरत्चंद्र इस ज्वलंत प्रश्न को कैसे अनदेखा कर सकते थे। उन्होंने अपने कुछ उपन्यासों में राजनीतिक स्वाधीनता के प्रश्न को उद्घाटित किया है।

वैसे राजनैतिक जीवन को लक्ष्य करके बंगला साहित्य में काफी उपन्यास लिखे. गये हैं। यह परंपरा हम बंकिमचंद्र से लेकर रवीन्द्रनाथ तक पाते हैं। बंकिमचंद्र का 'आनंदमठ' तथा रवीन्द्रनाथ का 'चार अध्याय' इसी शृंखला की कड़ी है।

बंकिमचंद्र ने "सामाजिक रूढ़िवाद और प्राचीन भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक विशिष्टता के आधार पर राष्ट्रीय आंदोलन का निर्माण करना चाहा है। बंकिमचंद्र ने

अपने समाज के गौरवशाली अतीत को निहारा और अपनी मातृभूमि के पुनर्जीवन के लिए राष्ट्रीय गान को मुक्त कंठ से गाया है। यह युग राजनीतिक क्रांति और सामाजिक प्रतिक्रिया के संगम का प्रतीक था। बंकिम सामाजिक प्रतिक्रिया के साथ राष्ट्रीयता के मेल का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके उपन्यास इस विश्वास की अभिव्यक्ति हैं कि भारतीय स्वतंत्र्य का मार्ग देश के कीर्तियुक्त अतीत के पुनरुद्धार में है। इसलिए उनकी कृतियों में आदि मध्यवर्ग के अराष्ट्रीयकरण के विरुद्ध विद्रोह का समावेश है।"[12]

रवीन्द्रनाथ ने अपने आरंभिक लेखन में शिक्षित वर्ग की कामनाओं और अभिलाषाओं का चित्रण किया। 'गोरा' (1910) में एक नवीन शक्ति एवं जीवन का स्पंदन है। "इसके धार्मिक संप्रदायों के तर्क–वितर्क, सामाजिक–परंपराएं, राष्ट्रीयता और देश भक्ति प्रचुरता से मिलती हैं। वाद–विवाद को तीक्ष्ण बुद्धि और तीव्र भावुकता के उत्कृष्ठ मिश्रण द्वारा निभाया गया है। उपन्यास का नायक गोरा स्वतंत्रता के लिए उत्कंठित और अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक दासता के विरुद्ध संग्राम कर रही भारत की आत्मा का प्रतीक है। वह निम्न मध्यवर्ग से संबंधित है जो राष्ट्रीय आंदोलन (1905–1910) के प्रथम चरण के समय से राजनीतिक रूप से जाग्रत हो गया था।"[13]

शरत्चंद्र पर इन दोनों (क्रमशः बंकिमचंद्र और रवीन्द्रनाथ) लेखकों के प्रभाव को साफ देखा जा सकता हैं। रवीन्द्र जयंती के मौके पर शरत्चंद्र ने गुरुवर लिखित 'चोखेर बाली' का उल्लेख किया था। इस उपन्यास में संस्कारों से मुक्ति का जो परिचय मिलता है, उसका पूर्ण विकास हम शरत्चंद्र के साहित्य में जाकर पाते हैं।

शरत्चंद्र की मौलिकता की प्रकाश वहां पाते हैं जहां उन्होंने समाज में प्रचलित नीतियों के विरुद्ध विद्रोह किया है। शरतचंद्र ने सामाजिक समस्याओं का कोई मीमांसा करने की चेष्टा नहीं की है। यहां तक कि उन्होंने 'शेष प्रश्न' का भी उत्तर नहीं दिया है। शरत्चंद्र का लेखन पीड़ितों, पतीतों के पक्ष को उजागर करता है। उनका पक्ष लेकर शरत्चंद्र ने प्रश्न किया है कि, जो समाज क्षमा करना नहीं जानता, सामंजस्य नहीं जानता, कोई उपलब्धि नहीं कर सकता, उस समाज का गौरव कहां है? और ऐसे समाज को अगर 'विराजबऊ' (बिराजबहू) – कुलत्याग करती है, तो क्या बुरा करती है। शरत्चंद्र यह दर्शाना चाहते हैं कि कुलत्याग करने पर भी वह 'पापी' नहीं है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि शरत्चंद्र मूल रूप से सामाजिक समस्याओं के चित्रकार हैं। किंतु फिर भी उनके कुछ उपन्यासों में हम युगीन राजनीतिक हलचलों को देख सकते हैं। इस संदर्भ में 'पथेरदाबी' (पथ के दावेदार) उनका प्रतिनिधि उपन्यास है। यह उपन्यास शुद्ध राजनीतिक दृष्टि से लिखा गया उपन्यास है। 'पथ के दावेदार' में 1920–25 के स्वाधीनता आंदोलन की गूंज सुनाई पड़ती है। यही वह समय था जब उग्रपंथी आंदोलनकारी अपने पूरे उफान पर थे। चंद्रशेखर, भगतसिंह आदि के नेतृत्व में चरमपंथी (उग्रपंथी) अपने कार्यों को सार्थक अंजाम दे रहे थे। यद्धपि शरत्चंद्र गांधीवादी थे, किंतु जैसे पहले भी कहा जा चुका है कि इन विप्लवियों के प्रति भी उनके मन में अपार स्नेह था। 'पथ के दावेदार' इसी बात का प्रमाण है। यह उपन्यास विप्लवियों का उपन्यास है। इस उपन्यास में शरत्चंद्र ने विप्लवियों के जीवन, उद्देश्य, कर्मठ क्षमता आदि को बड़े सुंदर एवं सुनियोजित ढंग

से चित्रित किया है। एक विप्लवी के लिए स्वाधीनता ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए, उनके लिए व्यक्तिगत प्रेम, पारिवारिक संबंध आदि कुछ भी मायने नहीं रखता है। उपन्यास के नायक सव्यसाची को इन्हीं तथ्यों का उद्‌घाटन करते हुए पाते हैं।

विप्लवियों की जिंदगी का वर्णन शरत्‌चंद्र ने 'शेष प्रश्न' में भी आंशिक रूप में किया है। 'राजन' (उपन्यास का एक पात्र) एक विप्लवी है, किंतु उनके गृह में विप्लवियों से संबंधित कोई वार्ता नहीं होती है। विप्लवियों के आचरण आदि को इस उपन्यास में दर्शाया गया है। राजेंद्र एक प्रखर चरित्रवाला व्यक्ति है। दूसरों के लिए वह हमेशा मर मिटने के लिए तत्पर रहता है। उसका कार्य कलाप औरों से भिन्न व स्वतंत्र है। बिना प्रयोजन वह अपना मुंह नहीं खोलता है। सबके समक्ष अपने आप को जाहिर नहीं करता है। और अपने कर्तव्य मार्ग से वह कभी भी विचलित नहीं होता है। कमल और राजेंद्र में भिन्नता है। दोनों के आदर्श अलग–अलग हैं। राजेंद्र कमल से अंशतः भी प्रभावित नहीं होता है। तर्क में राजेंद्र कमल से हमेशा आगे रहता है। राजेंद्र के तर्क से कमल को इस बात का अहसास होता है कि वह न्याय तर्क से काफी दूर है।

भाग – दो

(क) प्रेमचंद का जीवन और स्वाधीनता आंदोलन

शरत्‌चंद्र की तरह प्रेमचंद भी राजनीति से जुड़े थे। प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य उनके विचारों का वाहक है, जहां हम उनकी राष्ट्रीय भावनाओं और ज्वलंत सामाजिक समस्याओं से परिचित होते हैं।

सन् 1920–21 में गांधीजी के नेतृत्व में पूरे देश भर में असहयोग आंदोलन तीव्र हो उठा। इस आंदोलन के शुरु होने के कई कारण थे। 1. कांग्रेस में पुनः विभाजन, 2. रौलेट एक्ट के विरुद्ध प्रतिक्रिया, 3. जलियांवाला बांग हत्याकांड, बाद में इस आंदोलन के साथ खिलाफत आंदोलन को भी शामिल कर लिया। असहयोग आंदोलन के निम्नकार्यक्रम थे –

i) समस्त पदवियों का अवैतनिक पदों का परित्याग करना।

ii) स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के नामांकित पदों से त्याग पत्र देना।

iii) सरकारी पदाधिकारियों के द्वारा आयोजित तथा उनके सम्मान में किए गए उत्सवों का बहिष्कार।

iv) सरकारी एवं सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों में बच्चों के प्रवेश को रोकना।

v) वकीलों तथा वादी–प्रतिवादियों द्वारा न्यायालयों का बहिष्कार।

vi) मौसोपोटामिया में भारतीय सैनिक सेवाओं की प्रविष्ट का विरोध

vii) 1919 के कानून द्वारा संगठित की जाने वाली परिषदों के लिए उम्मीदवारी तथा मतदान करने का बहिष्कार।

viii) विदेशी माल का बहिष्कार

ix) राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं की स्थापना तथा उनका अधिकाधिक उपयोग।

x) लोक न्यायालयों की स्थापना से उनमें पंचायती निर्णयों से विवादों को हल करना।

xi) हथ–करघा तथा कुटीर उद्योगों के विकास द्वारा स्वदेशी माल का उपयोग।

xii) संप्रदायिक एकता का विकास।

xiii) छू–आछूत के भेदभाव का अंत करना तथा

xiv) सर्वत्र अहिंसात्मक ढंग से आचरण करते हुए उक्त कार्यक्रम को समाप्त करना।[14]

प्रेमचंद पर असहयोग आंदोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपनी सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। अपने मित्र मुंशी दयानारायण निगम को लिखते हैं कि उन्होंने इस्तीफा फरवरी 1921 में दे दिया। अपने इस्तीफे का जिक्र प्रेमचंद स्वयं इन शब्दों में करते हैं, "यह सन् 1920 की बात है। असहयोग आंदोलन जोरों पर था। जलियांवाला बांग का हत्याकांड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजी मियां के मैदान में अच्छा प्लेट–फार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह अपने जीवन में मैंने कभी न देखा था। महात्मा जी के दर्शनों का यह प्रताप था, कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी बीस साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।"[15]

सन् 1921 में 'ज़माना' में प्रेमचंद की कहानी 'लाल–फीता' प्रकाशित हुई। कहानी का नायक हरिबिलास ने भी सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया था। कहानी में इस्तीफे के शब्द लगभग प्रेमचंद के अपने इस्तीफे का शब्द प्रतीत होता है। इस्तीफे का शब्द कुछ इस प्रकार है "श्रीमान जी, मेरा विश्वास है कि राजनीतिक व्यवस्था ईश्वरीयइच्छा का प्रतिरूप है, और उसके कानून भी दया, सत्य और न्याय पर कायम

है। मैंने पंद्रह साल तक सरकार की सेवा की और अपने सामर्थानुसार अपने कर्तव्य का दयानतदारी से पालन किया। संभव है कि किसी समय अफसर मुझसे खुश न रहे हों, क्योंकि मैंने व्यक्तिगत आदेशों को कभी अपना कर्तव्य नहीं समझा। जब कभी कानून और अफसर के हुक्म में विरोध हुआ मैंने कानून का पथ ग्रहण किया। मैं सदा सरकारी नौकरी को देश सेवा का माध्यम समझता रहा, लेकिन सरकुलर नं..... में जो आदेश दिए गए हैं, वे मेरी आत्मा और असूल के विरुद्ध हैं और मेरे विचार में उनमें असत्य का इतना दखल है कि मैं उनका पालन करने में असमर्थ हूं। वे आदेश प्रजा की स्वतंत्रता के शत्रु और उसकी राजनीतिक जाग्रति के घातक हैं।

इस स्थिति से सरकार से संबंध स्थापित रखना देश और राष्ट्र के लिए हानिकारक है। अन्य अधिकारों के अतिरिक्त प्रजा को राजनीतिक संघर्ष का अधिकार भी प्राप्त है, और चूंकि सरकार इस अधिकार को कुचलने में तत्पर है, इसलिए मैं हिंदुस्तानी होने के नाते यह सेवा पालन करने में असमर्थ हूं। और प्रार्थना करता हूं कि मुझे शीघ्र अतिशीघ्र इस पद से मुक्त किया जाये।"

इस्तीफा देने के बाद प्रेमचंद सक्रिय रूप से कांग्रेस के कार्य कलापों में रूचि लेने लगे। वह अब कांग्रेस में होने वाली मीटिंगों में बराबर भाग लेते थे, इस दौरान प्रायः उनको घर लौटने में देर हो जाती थी। जैसा कि शिवरीन देवी लिखती हैं, "कांग्रेस की मीटिंग रोजाना चल रही थी, उसमें भी वे शरीक होते। 'मीटिंग' से लौटने में कभी–कभी रात के 10 बज जाते थे।"[16] शरत्चंद्र की तरह प्रेमचंद भी पूर्ण स्वराज्य के पक्षधर थे। वे कहते हैं, "भारत के उद्धार का अगर कोई उपाय है, तो वह स्वराज्य

है। जिसका आशय है – मन और वचन की पूर्ण स्वधीनता। प्रेमचंद के स्वराज्य का अर्थ था किसान, मजदूर, जनता का राज।"[17]

'डोमिनियन स्टेटस' का प्रेमचंद ने हमेशा से ही विरोध किया है। आगे वे कहते हैं "...स्वराज्य में मजदूरों और किसानों की आवाज उनका रक्त चूसने न देगा। डोमिनियन का अर्थ उनके लिए यही है कि दो चार गवर्नरियां, दो चार बड़े–बड़े पद उन्हें और मिल जाएंगे। उनका 'डोमिनियन स्टेटस' इसके सिवा और कुछ नहीं है। ताल्लुकेदार और राजे इसी तरह गरीबों को चूसते चले जाएंगे। स्वराज्य गरीबों की आवाज हैं, डोमिनियन गरीबों की कमाई पर मोटे होने वालों की।"[18] प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य उनके साम्राज्यवादी, सामंतवादी, पूंजीवादी शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया के स्वर को उजागर करता है। उस समय भारतीय जनता इन तीनों के तिहरे शोषण–चक्र में पिस रही थी। भारतीय सामंतवाद, पूंजीवाद को ब्रिटिश सरकार का संरक्षण भी प्राप्त था। प्रेमचंद के लिए स्वाधीनता एक व्यापक अर्थों में है। वह किसान, मजदूरों की मुक्ति को राष्ट्रीयता के साथ जोड़कर देखते हैं। उनका मानना था कि स्वाधीनता का आंदोलन केवल साम्राज्यवाद विरोध के मोर्चे में ही न लड़ा जाए, जैसा कि हो रहा था, वह सामंतवाद और पूंजीवाद – विरोधी मोर्चे पर भी सामानंतर लड़ा जाए। इस संदर्भ में डा. मैनेजर पाण्डेय बड़ी सटीक टिप्पणी करते हैं, "प्रेमचंद की रचनाशीलता का ऐतिहासिक संदर्भ स्वाधीनता आंदोलन था। इस स्वाधीनता आंदोलन का मुख्य प्रयोजन था देशी–विदेशी शोषण से जनता की मुक्ति। इसमें जनता का संघर्ष एक साथ सामंतवाद, पूंजीवाद और विदेशी साम्राज्यवाद से था।"[19]

'सोजेवतन' के रूप में प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें प्रेमचंद ने ब्रिटिश दमन चक्र की भरपूर निंदा की है। नतीजातन यह पुस्तक भी शरतबाबू के 'पथेरदाबी' की तरह तुरंत जब्त कर लिया गया।

राष्ट्रीय आंदोलन पर रूस की क्रांति का भी व्यापक प्रभाव पड़ा। प्रेमचंद भी इसके प्रभाव से अछूते न रहे। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास का एक पात्र बलराज कहता है – "तुम लोग तो ऐसी हंसी उड़ाते हो, मानो कास्तकार कुछ होता ही नहीं। वह जमींदार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है, लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में कास्तकारों का ही राज है वह जो चाहते हैं वह करते हैं। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहां अभी हाल ही की बात है, कास्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज्य करती है।"

प्रेमचंद अंध पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण के हमेशा खिलाफ रहे। जिस देश में निज संस्कृति के प्रति उपेक्षा भाव बढ़ते हैं वह देश मृतवत हो जाती है। प्रेमचंद को इस बात का इल्म था। अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करना और अंग्रेजी भाषा का गुलाम बनना इन दोनों के फर्क को प्रेमचंद भारतीय नवयुवकों को समझाना चाहते थे। अंग्रेजी भाषा के 'गुलामों' को प्रेमचंद ने 'सेवासदन' के एक पात्र बिट्ठलदास के द्वारा जाग्रत करने की कोशिश की है। "आपकी अंग्रेजी शिक्षा ने आपको ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान किसी विषय के गुण–दोष प्रकट न करे, तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते हैं। आप उपनिषदों का आदर इसलिए नहीं करते हैं

कि वह स्वयं आदरणीय है, बल्कि इसलिए करते हैं कि ब्लावेदस्की और मैक्समूलर ने उनका आदर किया है। आपमें अपनी बुद्धि से काम लेने का लोप हो गया है। ... यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं गई गुजरी है। आप उपनिषदों को अंग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में, अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृष्णा कहकर अपने स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं।"[20]

'मिस पद्मा', 'सोहाग का शव', 'उन्माद' आदि कहानियों में भी प्रेमचंद ने पश्चिमी संस्कृति के यथार्थ को प्रस्तुत किया है। 'उन्माद' का मनोहर इंग्लैण्ड जाकर अपनी पत्नी के रहते हुए एक फैशनेबुल रेस्ट्रा की लड़की 'जेनी' से विवाह कर लेता है। लगभग यही स्थिति 'सोहाग का शव' में केशव के साथ होता है। 'मिस पद्मा' में प्रो. प्रसाद (जो कि विदेशी संस्कारों से प्रभावित था) को मुक्त भोग के उपासक रूप में चित्रित किया गया है।

चौरी–चौरा में हिंसक घटना के बाद महात्मा जी ने असहयोग आंदोलन वापस ले लिया। देशव्यापी स्वतंत्रता संग्राम को इससे गहरा आघात पहुंचा। लोगों का मनोबल टूट रहा था। अंग्रेजों ने इस मौके का फायदा उठाया और स्वाधीनता आंदोलन में कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाले हिंदू और मुसलमानों के बीच झगड़े भड़काने लगे। मुद्दे पुराने थे – मस्जिदों के सामने बाजा बजवाना और मंदिरों में मांस फेंकवाना। प्रेमचंद ने अपनी कहानी 'मंदिर और मस्जिद' में इस षड्यंत्र का खुलासा किया। 1922–27 तक की अवधि में पूरे देश में सांप्रदायिकता फैल चुकी थी। मुसलमानों ने हिंदुओं को मुसलमान बनाना शुरु किया, बदले में आर्य समाज भी चुप न बैठे और तुरंत ही शुद्धि

आंदोलन चलाया। स्वामी श्रद्धानंद ने बहुत से मलकानों की शुद्धि की। प्रेमचंद इसके खिलाफ थे। उनका विरोध 'जमाना' में छपा। इसके छापते ही कुछ लोग उनसे नाराज भी हुए। प्रेमचंद की कहानी 'मंत्र' इस पूरी घटना की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी है। इस कहानी में उन्होंने बताया है कि शुद्धि आंदोलन मात्र एक धोखा है।

फरवरी 1930 ई. में सविनय–अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ हुआ। इस आंदोलन से प्रेमचंद को काफी उम्मीदें थीं। 'हंस' के प्रथम अंक के संपादकीय विभाग में उन्होंने लिखा है – "हंस के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नये युग का आगमन हो रहा है, अब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है ... 'हंस' का ध्येय आजादी की जंग में योग देना है।" लगभग इसी समय नमक आंदोलन शुरु हुआ। प्रेमचंद इसमें सक्रिय रूप से भाग लेना चाहते थे। वह इस आंदोलन में भाग लेते हुए जेल तक जाना चाहते थे। उन्होंने दयानारायण निगम को इस संबंध में पत्र भी लिखा। अपने पत्र में वह लिखते हैं – "यहां की हालत तो आपको मालुम ही है। शहर फौजी कैंप बना हुआ है। बिल्कुल बेजरूरत – एक बात और अर्ज करूं, अगर कहीं गिरफ्तार हो जाऊंगा या डंडे पड़ गए और रूह काबिले–उसरी से (पंचभूत के शरीर से आत्मा) पर बाज कर जाए तो मेरे परमाद गान (पीछे रहने वालों) की थोड़ी देखभाल करते रहिएगा। आज मुहर्रम का दिन है। देखें खैरियत से गुरजती है या कल मार्शल लॉ जारी होता है।" किंतु संयोगवश उनकी पत्नी ने ऐसा होने नहीं दिया, कारण प्रेमचंद उन दिनों काफी अस्वस्थ चल रहे थे, अतः उनकी पत्नी ने यह खत छिपा लिया था।

इस तरह जेल जाने का साध्य प्रेमचंद के मन में ही रह गया। उनकी इस कमी को सन् 1930 में उनकी सहधर्मिणी ने पूरा कर दिखाया। इस विषय में श्री जैनेंद्र कुमार को एक पत्र में प्रेमचंद ने लिखा था – "मेरी पत्नी भी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सजा पा गयी हैं। कल फैसला हुआ है। इधर पंद्रह दिनों से मैं इसी में परेशान रहा। मैं जाने का इरादा कर ही रहा था, पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बंद कर दिया।"[21] 12 जनवरी, 1931 के एक पत्र में भी उन्होंने लिखा, "हां, पत्नी जी तो आ गयी मगर शायद फिर जायें। अभी उन्हें संतोष नहीं। सारा स्वराज्य एक ही बार ले लेगी। किस्तों में नहीं चाहती।"[22]

प्रेमचंद आर्य समाज से बहुत प्रभावित थे; क्योंकि यह संगठन समाज सुधार का कार्य कर रहा था। उनकी आरंभिक रचनाओं में आर्य समाज के प्रभाव को साफ देखा जा सकता है। वे लिखते हैं – "मैं तो आर्य समाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूं उतनी तहजीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूं।... कौमी जिंदगी की समस्याओं को हल करने में उसने जिस दूरदेशी का सबूत दिया है, उस पर हम गर्व कर सकते हैं। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्य–समाज ने कदम उठाया। लड़कियों की शिक्षा की जरूरतों को सबसे पहले उसने समझा। वर्णव्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है। जाति भेद भाव और खान–पान को छू–आछूत और चौके–चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्म समाज ने इस दिशा में पहले कदम रखा, पर वह थोड़े से अंग्रेजी पढे–लिखे लोगों तक ही रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुंचने का बीड़ा आर्य

समाज ने ही उठाया। अंध विश्वास और धर्म के नाम पर किए जाने वाले हजारों अनाचारों की कब्र उसने खोदी, हालांकि मुर्दे को उसमें दफन न कर सका और अभी तक उसकी जहरीली दुर्गंध उड़ उड़कर समाज को दूषित कर रही है। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल (सतह) को आर्य–समाज ने जितना उठाया है, शायद ही भारत की किसी संस्था ने उठाया हो।"[23]

सन् 1935 में ई. एम. फास्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एशोसिएशन का पहला अधिवेशन सफलता पूर्वक संपन्न हुआ। इस सभा में कुछ भारतीय भी थे। इसी से प्रभावित होकर भारत में वामपंथी विचारों के साहित्यकारों ने संघटित होकर 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की। जिसका प्रथम अधिवेशन अप्रैल, 1936 में लखनऊ में हुआ। इसका सभापतित्व प्रेमचंद ने किया था। इस प्रकार सन् 35–36 के आस–पास प्रेमचंद प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित हो रहे थे। प्रगतिशील आंदोलन का उद्देश्य बहुत महान और वृहद था। इसमें समाज को एक नये जीवन दर्शन से चालित करने का संकल्प था। यह संकल्प एक प्रतिरोध शक्ति के रूप में उभर रहा था। प्रेमचंद की अंतिम दौर की कृतियों में प्रगतिशील विचारधारा को देखा जा सकता है। 'गोदान' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। 'गोदान' का यथार्थ – होरी की स्थिति, गोबर के रूप में प्रतिरोध की चिंगारी आदि प्रगतिशील विचारधारा का ही परिणाम है। प्रगतिशील विचार ने एक नये 'कांसेप्ट' को जन्म दिया। यह कांसेप्ट था राष्ट्रवाद का। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – "आरंभ में मानवतावाद मानवता को शोषण और बंधन से मुक्त करने के महान और उदार आदर्शों से चालित हुआ था।

तत्वचिंतकों और साहित्य मनीषियों के मन में इस आदर्श का रूप बहुत ही उदार था, पर व्यवहार में मनुष्य की उदारता केवल एक ही राष्ट्र के मनुष्यों की मुक्ति तक सीमित होकर रह गयी। धीरे–धीरे राष्ट्रीयता नामक नवीन देवी का जन्म हुआ। यह एक हद तक प्रगतिशील विचारों की ही उपज थी।"[24]

TH-12595

प्रगतिशील विचारों से चालित कथाकारों ने प्रगतिशील साहित्य का सृजन किया। इसी की एक निश्चित तत्ववाद पर आश्रित शाखा प्रगतिवाद साहित्य है। प्रगतिवादी साहित्य के आधारभूत तत्व दर्शन पर दृष्टिपात करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं, "प्रगतिशील साहित्य मार्क्स के प्रचारित तत्व दर्शन पर आधारित हैं। इस विचारधारा के अनुसार 1. संसार का स्वरूप भौतिक है, वह किसी चेतन सर्वसमर्थ सत्ता का विवर्त या परिणाम नहीं है। 2. उसकी प्रत्येक अवस्था की व्याख्या की जा सकती है, कुछ भी अज्ञेय या अचिंत्य नहीं है कुछ भी रहस्य या उलझनदार नहीं है। इस मत को मानने वाला साहित्यिक रहस्यवाद में विश्वास नहीं कर सकता, प्रकृति या ईश्वर के निष्ठुर परिहास की बात नहीं सोच सकता, भाग्यवाद के ढकोसले को बर्दाश्त नहीं कर सकता। 3. इस मत में समाज निरंतर विकासनशील संस्था है। आर्थिक विधानों के परिवर्तन के साथ–साथ समाज में भी परिवर्तन होता है। इस मत को स्वीकार करने वाला साहित्यिक समाज की रूढ़ियों को सनातन से आया हुआ, शास्त्र या ईश्वर की निर्भात आज्ञाओं पर बना हुआ और उच्च–नीच मर्यादा को अपरिवर्तनीय सनातन विधान नहीं मान सकता। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्यिक समाज को किसी व्यवस्था को सनातन नहीं मानता, किसी भी वस्तु को रहस्य और

Jawaharlal Nehru University Library

अज्ञेय नहीं समझता तथा किसी अज्ञेय–अलक्ष्य चितरंजन प्रियतम को लीला को साहित्य का लक्ष्य नहीं मानता। वह समाज बदल देने में विश्वास करता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य प्रयत्न करके इस समाज को ऐसा बना सकता है जिसमें शोषकों और शोषितों के वर्ग न हों और मनुष्य शांति पूर्वक जीवन बिता सके। इसलिए उनके अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है। साहित्यकार को इसकी साधना इसी महान उद्देश्य के लिए करना चाहिए।"[25]

प्रेमचंद ने प्रगतिशील विचारधारा को कदाचित इसलिए महत्व दिया है, कि यह विचारधारा मानव के स्तर पर समाज में आमूल परिवर्तन के लक्ष्य को लेकर चलता है। प्रगतिशील विचार धारा एक ऐसी क्रांति का आह्वान करता है जिसमें मानव–मानव के बीच कोई भेद न हो। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं – "प्रेमचंद प्रगतिशील आंदोलन से प्रभावित रहे हैं। इस प्रगतिशील विचार धारा पर प्रगतिवादी दृष्टिकोण हावी रहा है क्योंकि; प्रगतिवादियों की दृष्टि में समाज और मानव जीवन में सुधार की स्थितियां लाना आवश्यक था। इसलिए प्रेमचंद ने प्रगतिशील विचारधारा को महत्व दिया है क्योंकि उन्हें विश्वास था कि इस आंदोलन से मानव के जीवन के स्तर में अवश्य परिवर्तन होगा। खगेंद्र ठाकुर ने प्रगतिशील विचारधारा के उन तत्वों की ओर संकेत करते हुए लिखा है, जिनसे भारत में इसकी नींव पड़ी और विस्तार हुआ – भारत में प्रगतिशील लेखक संघ का गठन राष्ट्रीय दृष्टि उन शक्तियों, प्रवृत्तियों और मूल्यों का मंच बनकर सामने आया, जो प्रथम महायुद्ध के बाद की भारतीय परिस्थिति में स्वाधीनता संग्राम में साहित्यिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तर पर उभर आए थे।

वास्तव में चेतना के स्तर पर 'प्रगतिशील लेखक संघ' ने इतिहास की एक राष्ट्रीय–सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति की।"[26]

इस प्रकार आर्य–समाज, गांधीवाद और फिर मार्क्सवाद, प्रेमचंद पर इन सभी का प्रभाव आंशिक रूप से रहा है। प्रेमचंद किसी एक वाद से जुड़े नहीं थे, न ही उनकी विचार धारा में कोई विशेष वाद हमेशा हावी रहा है। प्रेमचंद के आलोचक प्रेमचंद को आर्यसमाजी घोषित करते हैं, गांधीवादी घोषित करते हैं और कोई मार्क्सवादी। इन घोषणाओं के बीच प्रेमचंद की मूल दृष्टि कहीं खो जाती है। और पाठक एवं आलोचक दोनों ही वादों के घेरे में भ्रमित होकर रह जाते हैं। प्रेमचंद की मूल दृष्टि राष्ट्रीय चेतना से अभिभूत है। साहित्य प्रेमचंद का साध्य है और स्वाधीनता उनका लक्ष्य। निष्कर्ष के तौर पर डॉ. नत्थन सिंह के शब्दों को ही उद्धृत करना युक्तियुक्त रहेगा। "कुछ लोग प्रेमचंद को गांधीवादी–चेतना के प्रति पादन में खोजते हैं और कुछ लोग मार्क्सवादी–प्रदर्शन की अभिव्यक्ति में, यथार्थ में, दोनों दृष्टियां संकुचित मस्तिष्क का परिणाम हैं। प्रेमचंद तो भारतेंदु के समान राष्ट्रीय चेतना तथा मानवीय संबंधों से जुड़े थे। प्रारंभ में उन्हें गांधीवाद ने आकर्षित किया था और बाद में मार्क्सवादी दर्शन ने। उनके लिए दर्शन प्रधान न था। प्रधान था देश का समतामूलक स्वतंत्र वातावरण।"[27]

(ख) प्रेमचंद का साहित्य और स्वाधीनता आंदोलन

वैसे तो प्रेमचंद के स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की भावना का वाहक उनका संपूर्ण गद्य साहित्य है। पर इन सबके बीच उनकी पहली पुस्तक 'सोजेवतन' का एक खास महत्व है। राष्ट्रीय भावना से ओत–प्रोत लेखक के इस संग्रह को राजद्रोह करार दिया

गया और पुस्तक को जब्त कर लिया गया तथा उसकी करीब 700 प्रतियां अग्नि को समर्पित कर दी गयी। "सोजेवतन छोटी सी पुस्तक थी। जिसमें पांच, छः कहानियां थी और कीमत भी पांच–छः आने से अधिक नहीं थी। लेकिन यह वह पुस्तक है, जिसने उन्हें प्रेमचंद बना दिया। ये कहानियां, जैसा कि पुस्तक के नाम से विदित है, देश प्रेम और राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करती थी। आमतौर पर उनको बहुत पसंद किया गया था। मुंशी साहब शिक्षा विभाग से संबंधित थे। सोजेवतन पर न सिर्फ एतराज हुआ, बल्कि मुलाजमत तक के लाले पड़ गए। खुदा–खुदा करके वह बला टल गयी और उसी के साथ मुंशी साहब की भी काया पलट गयी।"[28]

जिलाधीश से प्रेमचंद को आदेश मिला कि आगे से वह जो कुछ लिखे पहले उनसे रज़ामंदी ले लें। इस प्रकार बंधनों के बंदिश में होने के कारण प्रेमचंद उन दिनों काफी दुःखी थे। उनकी मानसिक स्थिति का पता हम इन शब्दों से जान सकते हैं – "यह तो 'लेखन' रोज का धंधा ठहरा। हर माह एक मजमून साहब बहादुर 'जिलाधीश' की खिदमत में पहुंचे तो वह यह समझेंगे कि मैं अपने सरकारी फरायज में खयानत करता हूं। और काम सिर पर थोपा जाएगा। इसलिए नवाबराय मरहूम हुए, उनके जांनशोन कोई और साहब होंगे। आप मेरा मजमून किताबत कराने के बाद मुंशी चिराग अली को दे दिया करेंगे।"[29] सोजेवतन के साथ प्रेमचंद के अच्छे बुरे दोनों अनुभव रहे। सोजेवतन ने भारतीय कथा साहित्य को प्रेमचंद दिया, क्योंकि प्रेमचंद ने सोजेवतन के बाद दयानारायण निगम के कहने पर अपने पुराने नाम 'नवाबराय' को त्याग कर छद्म

नाम 'प्रेमचंद' को ग्रहण किया और इसी नाम के साथ प्रेमचंद की 'किस्मत' भी बदल गयी।

विदेशी शासित और शोषित वातावरण में ऐसी विशुद्ध स्वदेशी भावना से ओत–प्रोत कथा लिखना सचमुच एक साहसपूर्ण कार्य है। 'सोजेवतन' की भूमिका में प्रेमचंद जी लिखते हैं – "हर एक कौम का साहित्य अपने जमाने की सच्ची तस्वीर होता है। और जो विचार मस्तिष्क में घूमते हैं और जो भाव कौम के दिलों में गूंजते हैं, वे गद्य और पद्य में ऐसे सफाई से नजर आते हैं, जैसे आईने में सूरत। हमारे लिटरेचर का आरंभिक दौर वह था, जब लोग गफलत के नशे में मतवाले हो रहे थे उसमें कुछ आशिकाना गजलों और चंद लोफर किस्सों के अलावा कुछ नहीं थे।

दूसरा दौर वह था, जब कौम के नये और पुराने विचारों में जिंदगी और मौत की लड़ाई शुरु हुई और सामाजिक व्यवस्था में सुधार करने की योजनाओं पर ध्यान जाने लगा। इस दौर की कहानियां ज्यादातर सामाजिक सुधार का पहलू लिए हुए हैं। बंगाल के विभाजन ने लोगों के हृदय में विद्रोह का भाव भर दिया ये विचार साहित्य को प्रभावित करने से कैसे रोक सकते थे? ये कुछ कहानियं इसी प्रकार की शुरुआत हैं। हमारे मुल्क को ऐसी किताबों की सख्त जरूरत है जो नयी नस्ल के जिगर पर हुस्बेवतन (देश प्रेम) की अजमत का नशा जमाए।" 'सरस्वती पत्रिका' में पहली बार 'सोजेवतन' के रुप में किसी उर्दू लिखित पुस्तक को स्थान दिया गया। स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने इस पुस्तक की काफी प्रशंसा की है।

अपने आरंभिक दौर की कहानियों में प्रेमचंद राष्ट्रीयता को ही आधार बनाया। 'सबसे अनमोल रतन' में प्रेमचंद लिखते हैं – "क्या है, दुनिया का सबसे अनमोल रतन? कारु का खजाना, आबे हयात, खुसरो का ताज, तख्ते हाऊस, परवेज की दौलत? फांसी के फंदे पर कैदी के आंसुओं की दो बूंदें या चिता अग्नि में समर्पित विधवा की राख? नहीं यह सब कुछ नहीं। दुनिया का सबसे अनमोल रतन है, खून का वह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे।" प्रेमचंद ने स्वाधीनता को जीवन माना है। 'खुचड़' कहानी में वे लिखते हैं – "जीवन स्वाधीनता का नाम है, गुलामी मौत है।"[30] प्रेमचंद पराधीनता के वातावरण में सांस लेने की अपेक्षा मौत को बेहतर समझते थे। वे कहते हैं – "हमारे ऊपर कानून से नहीं, लाठी से राज हो रहा है और हम इतने बेशर्म हैं कि इतनी दुदर्शा होने पर भी नहीं बोलते। हम इतने स्वार्थी, इतने कायर न होते तो उनकी मजाल थी कि हमें कोड़ों से पीटते। इस तरह हम मार खाते रहेंगे? तुम्हें भी अपनी इज्जत–आबरु का कुछ ख्याल है? जब इज्जत ही नहीं रही तो क्या करोगे जीकर क्या इसलिए जी रहे हो कि तुम्हारे बाल बच्चे इसी तरह लात खाते जाएं? इसी तरह कुचले जाएं? छोड़ो यह कायरता।"[31]

'समरयात्रा' संग्रह की प्रायः सभी कहानियां सविनय–अवज्ञा आंदोलन से प्रभावित रहीं हैं। ये कहानियां हैं जेल, कानूनी कुमार, पत्नी से पति, लांछन, ठाकुर का कुआं, शराब की दुकान, जुलुस, मैकू, आहुति, होली का उपहार, अनुभव तथा समर यात्रा।

'जुलूस' कहानी का केंद्रीय विषय स्वाधीनता आंदोलन है। आंदोलनकारियों के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए प्रेमचंद कहते हैं – "हमें किसी से लड़ाई करने की

जरूरत नहीं, हमारा उद्देश्य केवल जनता की सहानुभूति प्राप्त करना है, उनकी मनोवृत्तियों को बदल देना है। जिस दिन हम इस लक्ष्य पर पहुंच जाएंगे, उसी दिन स्वराज्य–सूर्य उदय होगा।"[32] वैसे तो इस कहानी में कई पात्र हैं पर मुख्य रूप से इस कहानी की कथा दो पात्रों के इर्द–गिर्द घूमती है दारोगा बीरबल सिंह और उसकी पत्नी 'मिट्ठनबाई'। दारोगा जी अंग्रेजी सरकार का कर्मचारी है। उनके ऊपर क्रांतिकारियों को दमन करने का कार्यभार सौंपा जाता है। जबकि 'मिट्ठबाई' एक देशभक्त है। स्वतंत्रता सेनानियों के प्रति उनके मन में अपार स्नेह है।

शक्ति के नशे में उन्मत दारोगा जी बुरी तरह आंदोलनकारियों को पीटते हैं। और अपना घोड़ा उन बेकसूरों पर दौड़ा देते हैं। इससे क्रांतिकारी इब्राहिम की मौत हो जाती है। बीरबल सिंह की पत्नी इस घटना पर अपने पति को कोसती है। वह कहती है "तुम कम से कम इतना तो कर ही सकते थे कि उन पर डंडे न चलने देते। तुम्हारा काम आदमियों पर डंडे चलाना है?... कल को तुम्हें अपराधियों को बेंत लगाने का काम दिया जाये, तो शायद तुम्हें बड़ा आनंद आएगा, क्यों?"[33] बीरबल सिंह को पुनः एक 'जुलूस' का दमन करने का हुक्म दिया जाता है। इस पर 'मिट्ठनबाई' व्यंग्य करती हुई कहती है – "फिर तो तुम्हारी चांदी है। तैयार हो जाओ। और फिर वैसे ही शिकार मिलेंग। खूब बढ़–बढ़ाकर हाथ दिखाना... अबकी तुम इंस्पेक्टर हो जाओगे।"[34] इस कहानी में आंदोलनों के प्रति युगीन जनोत्साह को देखा जा सकता है। एक बुढ़िया बीरबल के तरफ इशारा करती हुई कहती हैं "मेरी कोख में ऐसा बालक जन्मा होता तो

उसकी गर्दन मरोड़ देती।"[35] कहानी का अंत बीरबल के हृदय परिवर्तन से होता है। वह अपने किए पर पश्चताप करता है।

'जेल' कहानी में प्रेमचंद ने स्वाधीनता आंदोलन में स्त्रियों की भूमिका को उद्घाटित किया है। मृदुला अपना सर्वस्व खो कर भी टूटी नहीं है, बल्कि उसमें एक नयी शक्ति का संचारण हो जाता है। वह स्वाधीनता संघर्ष में अपने पुत्र को खो देती है। "...भान छज्जे पर खड़ा था, न जाने किधर से एक गोली आ उसकी छाती में लगी। मेरा लाल वहीं पर गिर पड़ा, सांस तक न ली, मगर मेरी आंखों में अब भी आंसू न थे। मैंने उसे जो दूध पिलाया था, उसे वह खून से अदा कर रहा था। उसके खून से तर कपड़े पहने हुए मुझे वह नशा हो रहा था, जो शायद उसके विवाह में गुलाल से तर रेशम के कपड़े पहन कर भी न होता। लकड़कपन, जवानी और मौत। तीनों मंजिलें एक ही हिचकी में तमाम हो गयी।"[36] मगर पुत्र की मौत से भी मृदुला दुर्बल नहीं हुई। बल्कि वह कहती है "... मगर मुझमें अब लेश मात्र भी दुर्बलता नहीं है। मैं चिंताओं से मुक्त हूं। मैजिस्ट्रेट जो कठोर से कठोर दण्ड प्रदान करे, उसका स्वागत करूंगी।"[37]

'होली का उपहार' में एक अलग ही होली का माहौल देखने को मिलता है। 'वंदे मातरम' की ध्वनि हुई। तमाशाइयों में कुछ हलचल हुई। लोग दो–दो कदम और आगे बढ़ आए। स्वयंसेवकों ने दर्शकों को प्रणाम किया और मुस्कुराते हुए लारी में जा बैठे। अमरकांत सबसे आगे थे। लारी चलना ही चाहती थी कि एकाएक सुखदा किसी तरफ से दौड़ी हुई आ गयी। उसके हाथ में एक पुष्प माला थी। लारी का द्वार खुला था, उसने ऊपर चढ़कर वह माला अमरकांत के गले में डाल दी। आंखों से स्नेह और

गर्व की दो बूंदे टपक पडीं। लारी चली गयी। यही होली थी, यही होली का आनंद मिलन था। उसी वक्त सुखदा दुकान पर खड़ी होकर बोली – विलायती कपड़े खरीदना और पहनना देशद्रोह है।"[38]

प्रेमचंद की एक ओर कहानी है 'सत्याग्रह'। इसमें उन्होंने सत्याग्रह के महत्व को दर्शाया है। विरोधी पक्ष चाहे जितना भी जुगत लगा ले पर सत्याग्रह तो सफल होकर ही रहेगा। 'राय हर नंदन सहाब', 'राजा साहब' जैसे लोग आंदोलन के विरुद्ध खड़े हैं, इस आंदोलन को विफल करने और दुकानें खुली रखने के लिए तरह–तरह के हथकंडे अपनाते हैं।

कर्मचारियों ने दुकानें खोलने से इंकार कर दिया। राजा साहब आंदोलन को विफल करने के लिए एक युक्ति सूझी उन्होंने कहा "कोई ऐसा आदमी पैदा करना चाहिए, जो व्रत करें कि दुकानें न खुली, तो मैं प्राण दे दूंगा। यह जरूरी है कि वह ब्राह्मण हो और ऐसा, जिसको शहर के लोग मानते हैं, आदर करते हों"[39] पश्चात उन्होंने 'मोटे राम शास्त्री' को इस कार्य के लिए नियुक्त किया। शास्त्री जी अंततः अपनी भूख बर्दाश्त नहीं कर पाते हैं, और सत्य की जीत होती है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में स्वाधीनता आंदोलन की गूंज 'सेवासदन' से ही पाते हैं। इस उपन्यास में मानों लेखक ने पहले ही दूरदृष्टा बनकर साम्राज्यवादी नीतियों को भांप लिया था। प्रेमचंद लिखते हैं कि "शिला और कला कौशल का यह महल उसी समय तक है जब तक संसार में निर्बल, असमर्थ जातियां है, पर ज्योंही वे जातियां चौंकेंगी, यूरोप की प्रभुत्ता नष्ट हो जाएगी।"[40]

'कायाकल्प' में भी स्वदेशी के भाव को देखा जा सकता है। चमारों से बेगार कराए जाने का विरोध, राजा और अंग्रेजों द्वारा गोलियां बरसाने का विरोध तथा बंदूकें छीनने के लिए निर्भय होकर आगे बढ़ जाना, जेल में कैदियों का संगठित होना आदि लेखक के स्वदेशी भाव को उजागर करता है।

'प्रेमाश्रम' में स्वाधीनता–आंदोलन, कृषक जीवन की विपन्नता और जमींदार वर्ग की शोशण नीति, भूमिपति और, कृषक के परंपरागत संबंधों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न परिस्थिति, जमींदारी शोषण के विरुद्ध आवाज, कृषक और जमींदार संघर्ष, ग्रामीण समाज के आर्थिक पक्ष आदि पर दृष्टिपात किया गया है।"[41]

'रंगभूमि' में प्रेमचंद ने स्वतंत्रता आंदोलन की प्रारंभिक झलक का आभास दिया है। रंगभूमि में राष्ट्रीय आंदोलन की लड़ाई प्रतीकात्मक ढंग से लड़ी गई है। इस दृष्टि से उपन्यास का नामकरण बड़ा सटीक दिखता है। 'रंगभूमि' की कथा सूरदास के संघर्ष की कथा है। पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधि जॉनसेवक सूरदास से उसकी जमीन छीन लेना चाहता है, क्योंकि वह वहां अपना कारखाना खोलना चाहता है। इसके लिए जॉन तरह–तरह के हथकंडे अपनाते हैं। और फिर जॉन अपने मकसद में कामयाब होता है। कारखाना लगने से गांव में मजदूर वर्ग का जन्म होता है। ये लोग अपनी पुरानी परंपरा को खो रहे हैं। सूरदास कहते हैं कि ये रोज बस्ती में शोर मचाते हैं। मुहल्ले की लड़की और औरतों को छेड़ते हैं। शराब पीते हैं और सबकी रातों की नींद हराम करते रहते हैं। मजदूरों के लिए मकानों की आवश्यकता पड़ती है तो किसानों से जबर्दस्ती उनकी जमीन, मकान खाली कराये जाते है। इस कार्य में अंग्रेज जॉन के साथ हैं।

जॉन की मदद के लिए तुरंत पुलिस पहुंच जाती है। और बेकसूर किसानों पर अंधाधुंध गोलियां बरसाती है जिससे कई लोग मारे जाते हैं और हजारों घायल होते हैं। पूरे उपन्यास में सूरदास का चरित्र देखने लायक है। डा. रामविलास शर्मा कहते हैं – "सूरदास प्रेमचंद के उन पात्रों में है जो जिंदगी को संघर्ष समझते हैं और कितनी भी कठिनाइयां पड़ें, उनके सामने पीठ दिखाना नहीं जानते।"[42] अंग्रेज सूरदास से डरते हैं क्योंकि उन्हें पता है कि ये व्यक्ति अन्याय को नहीं सहता, गांव की जनता उसका आदर करती है। 'रंगभूमि' पर टिप्पणी करते हुए डा. रामविलास शर्मा कहते हैं, "यह सन् 20 से 30 से बीच का उपन्यास है जब हिंदुस्तान में बड़े–बड़े नेताओं की तरफ से राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन हो रहा था, जब अंग्रेज कहते थे कि देश में शांति है। तब भी सूरदास लड़ रहा था और मृत्यु–शय्या से पुकारकर कह रहा था – "फिर खुलेंगे, जरा दम ले लेने दो। ये भारत की अजय जनता का स्वर था।"[43] प्रेमचंद ने बड़ी चतुराई से एक साधारण किसान की कथा को राष्ट्रीयता के प्रश्न से जोड़ दिया। और एक आम आदमी की नैतिक शक्ति को संगठित समूह के सत्याग्रह में विकसित कर दिया।

स्वदेशी आंदोलन में प्रेमचंद निम्नवर्गों के योगदान को भी रेखांकित करते हैं। सूरदास जाति से चमार है। चमार को उपन्यास का नायक बनाकर प्रेमचंद ने एक साहसपूर्ण कार्य किया है। सूरदास एक ऐसा चरित्र है जिसके सामने अन्य उच्च जातियों के व्यक्ति भी बौने नजर आते हैं। सूरदास का चरित्र उसे युग पुरुष बना देता है।

'गबन' में एक खटिक जाति के व्यक्ति देवीदीन को स्वदेशी आंदोलन में अपने दोनों पुत्रों को बलिदान करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। गबन में सन् 1930 के घटनाक्रम तथा जनता के उत्साह का परिचय मिल जाता है। प्रेमचंद लिखते हैं – "जिस देश में रहते हैं, जिसका अन्न–जल खाते हैं, उसके लिए इतना भी न करें तो जीने को धिक्कार है।"[44]

'बॉयकाट' आंदोलन के प्रभाव को भी इस उपन्यास में देखा जा सकता है। प्रेमचंद ने बड़े मार्मिक ढंग से 'बॉयकाट' के दृश्य को चित्रित किया है – "स्वदेशी का प्रचार करने वाले स्वयंसेवक विदेशी वस्त्र विक्रेताओं की दुकानों के आगे खड़े हो जाते थे, और ग्राहकों को हाथ जोड़कर, धिधियाकर, धमकाकर, या नाना प्रकार की उक्तियों से लज्जित करके लौटा देते थे।"[45]

'गबन' में देवीदीन की स्वदेशी भावना कोई दिखावा नहीं है। स्वदेशी की भावना उनके रोम–रोम में बसी है। अपने पुत्र के बलिदान पर भी तनिक भी विचलित नहीं हुए। बल्कि वह कहते हैं – "...उसी रात दोनों सिधार गए। तुम्हारे चरण छूकर कसम खाता हूं मैया, उस वखत ऐसा जान पड़ता था कि मेरी छाती गज भर की हो गयी, पांव जमीन पर न पड़े थे। यही उमंग आती थी कि भगवान ने औरों को पहले न उठा लिया होता, तो इस समय उन्हें भी भेज देता।"[46] वह स्वयं भी अपनी जिंदगी देश के नाम करने को तैयार है। आगे वह कहते हैं, "बेटों को गंगा में बहाकर मैं सीधे बजाजे पहुंचा और उसी जगह खड़ा हुआ, जहां दोनों वीरों की लहाश गिरी थी।... आठ दिन वहां से हिला तक नहीं।... नवे दिन दुकानदारों ने कसम खाई कि विलायती कपड़े अब

न मंगवाएंगे। तब पहरे उठा लिए गए। तब से विदेशी दियासलाई भी घर में नहीं लाया।"[47]

स्वदेशी का जो भाव 'रंगभूमि' के सूरदास ने अपने लहू से सींचा था, उसी सिंचित मिट्टी में कर्मभूमि के पात्र अमरकांत, सुखदा, नैना आदि ने पुष्प अंकुरित किया है। सूरदास की लड़ाई को कर्मभूमि में पात्र अंजाम देते हैं। कर्मभूमि पर चर्चा करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं, "कर्मभूमि हिंदुस्तान के स्वाधीनता आंदोलन की गहराई और प्रसार का उपन्यास है। यह आंदोलन एक जबर्दस्त सैलाब की तरह तमाम जनता को अपने अंदर समेट लेता है। विद्यार्थी, किसान, अछूत, स्त्रियां, शिक्षक व्यापारी, मजदूर – सभी इसके प्रभाव में आगे बढ़ चलते हैं।"[48] राष्ट्रीयता के साथ–साथ कर्मभूमि में सामाजिक समस्याओं को भी उद्घाटित किया गया है। डॉ. जैदी लिखते हैं – "शिक्षा की दूषित प्रणाली, हाकिमों और जमींदारों के अत्याचार धर्म के ठेकेदारों की अमानुषिक नीति, घर की चार दीवारियों में सुलगती हुई विडम्बना, अंग्रेजी सभ्यता के नशे में डूबी हुई युवा पीढ़ी, शोषक वर्ग और शोषकों के मध्य के गठजोड़, गरीबों की नंगी पीठ से उभरती हुई पुलिस के डंडों और कोड़ों की सड़ाप–सड़ाप ध्वनि और बंदूकों से निकलने वाली धायं–धायं की आवाजें, घरों और पाठशालाओं से उठती हुई आग की लपटें और धुएं की चादर ओढ़े हुए केश खोलकर मातम करती हुई दीवारों – कैसा था वह पराधीन देश। और कैसा था वह अन्याय के बल पर टिका हुआ अंग्रेजी शासन। कर्मभूमि की कथा में प्रेमचंद ने अपने युग के राजनैतिक इतिहास को संगुफित सा कर दिया है। कर्मभूमि के 'प्लाट' में सामाजिक शोषणों के विरुद्ध विद्रोह का चित्रण है।

किस तरह से एक भोली–भाली स्त्री अपनी इज्जत गवानें पर बदला लेने के लिए विरांगना बन जाती है, और एक ही वार में गोरों को धाराशायी कर देती है। उसके पीछे अमरकांत, सलीम, सुखदा, सकीना, शांतिकुमार के रूप में पूरा देश खड़ा होता है।

अछूतों का मंदिर में प्रवेश का सवाल हो, मजदूरों के घर बनाने के लिए जमीन का सवाल हो या लगान का सवाल हो, अब देश के सभी वर्ग आंदोलन के लिए तैयार हैं चाहे वह किसान हो, मजदूर हो या समाज का दलित वर्ग ही क्यों न हो।

इस प्रकार प्रेमचंद के साहित्य पर विहंगावलोकन करते हुए हम देखते हैं कि उनके "साहित्य में आजादी की लड़ाई के विभिन्न स्तर और रूप दिखाई पड़ते हैं। आजादी का महत्व उन्होंने महात्मा गांधी से नहीं सीखा था, उसे वे पहले जानते थे। समाजवाद का ज्ञान भी उन्हें भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी की स्थापना के पहले से था। इन कारणों से प्रेमचंद के साहित्य को आधार बनाया गया तो भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का इतिहास बेहतर ढंग से लिखा जा सकेगा।"[49]

संदर्भ

1 शरत् समग्र सं. विश्वनाथ मुकर्जी, पृ.617(II)

2 13 श्रवण, 1343

3 आर. डब्ल्यू कॉलिन, रिपोर्ट ऑन दि एक्जिस्टिंग आर्ट्स एंड इंडस्ट्रीज ऑफ बंगाल, 1890, जे. जी. कुमिंग, रिब्यू ऑफ दि इंडस्ट्रियल पोजीशन एंड प्रास्पेक्टस इन बंगाल इन 1908, पृ.5

4 बंगला नवजागरण – सुशोभन सरकार, अनु: एस.एन. कानूनगो, पृ.51

5 शरत् समग्र खंड–2, सं. विश्वनाथ मुकर्जी, पृ.618

6 वही, ५ - 609

7 शरत् समग्र–2, पृ.622

8 विप्रदास, पृ.14

9 विप्रदास, पृ.32–33, रचनावली–7, सं. सुनील त्रिवेदी

10 वही रचनावली, पृ.269–630

11 शरत् समग्र–2, पृ.632

12 शरत् चंद्र, चिंतन व कला, प्रकाशक हिंदी भवन जलंधर और इलाहाबाद, इंद्रनाथ मदान, पृ.3

13 वही, पृ.6

14 भारत में राष्ट्रीय आंदोलन का उद्भव एवं विकास, एम.एल. धवन, पृ.180–181

15 प्रेमचंद जीवन और कृतित्व, हंसराज रहबर, पृ.87

16 प्रेमचंद घर में, शिवरानी देवी, पृ.84

17 धर्मयुग, अगस्त, 1980, पृ.11

18 हंस, माच, 1930

19 साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ.291

20 सेवासदन, पृ.244–245

21 प्रेमचंद एक कृति व्यक्तित्व, जैनेंद्र कुमार, 89

22 वही,, पृ.59

23 प्रेमचंद युगीन भारतीय समाज, पृ.13

[24] हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृ.258

[25] हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृ.260

[26] प्रेमचंद कथा साहित्यः समीक्षा और मुल्यांकन, डा. धर्म ध्वज त्रिपाठी, पृ.204–205

[27] प्रेमचंद : मूल्यांकन और मूल्यांकन, डा. नत्थन सिंह, पृ.32

[28] प्रेमचंद जीवन और कृतित्व – हंसदराज रहबर, पृ.52–53

[29] कलम का मजदूरः प्रेमचंद, कमल किशोर गोयनका पृ.59

[30] मानसरोवर, भाग–6, प्रेमचंद, पृ.106

[31] मानसरोवर, भाग–7, प्रेमचंद, पृ.71

[32] समरयात्रा, पृ.84

[33] समरयात्रा, पृ.48

[34] वही, पृ.85

[35] वही, पृ.87

[36] वही, पृ.13

[37] वही, पृ.16

[38] वही, पृ.114

[39] मानसरोवर, भाग–3, पृ.292

[40] सेवासदन, पृ.155

[41] प्रेमचंद युगीन भारतीय समाज, पृ.38

[42] प्रेमचंद और उनका युग, पृ.75

[43] वही, पृ.80

[44] गबन, पृ.170

[45] वही, पृ.170

[46] वही, पृ.171–172

[47] वही, पृ.171

[48] वही, पृ.81

[49] प्रेमचंद शतांब्दीः शताब्दी विरोधी व्याख्या, सतीश राज पुस्करणा, प्रेमचंद स्मृति धरोहर, सं. शंकर दयाल सिंह।

द्वितीय अध्याय

पथेरदाबी' और स्वाधीनता आंदोलन

'पथ के दावेदार' लिखे जाने से लेकर प्रकाशन तक की कथा भी बड़ी रोमांचकारी है। इस उपन्यास का प्रथम अंक 'बंगवाणी' में 1923 (फरवरी) को छपा। 'बंगवाणी' का प्रकाशन उन दिनों विख्यात आशुतोष मुकर्जी के लड़के उमाप्रसाद मुखर्जी करते थे। इस उपन्यास का अंतिम अंक लगभग तीन साल बाद यानि 1926 को छपा। 'बंगवाणी' में यह उपन्यास कुल 24 किस्तों में छपा। एक–एक अंक के लिए 'कुमुदचंद्रराय' (बंगवाणी–व्यवस्थापक), श्यामाप्रसाद तथा रामाप्रसाद को शरत्बाबू के यहां काफी चककर काटने पड़े। प्रकाशक को इस बात का ज्ञान था कि अंग्रेजी सरकार इस उपन्यास को पुस्तक के रूप में छापने नहीं देगी। इसलिए प्रकाशकों ने एक चाल चली, इस उपन्यास के अंतिम अंक (अप्रैल, 1926 में छपी थी) में उन्होंने क्रमशः लिख दिया। उनकी यह चाल पूर्णतः कामयाब रही। पुलिस यह समझती रही कि यह उपन्यास अभी भी समाप्त नहीं हुआ, और इसी बीच पुस्तक प्रकाशित करने का सारा आयोजन कर लिया गया। इस उपन्यास को एम. सी. सरकार एण्ड संस के मालिक सुधीर सरकार प्रकाशित करना चाहते थे, किंतु, उन्होंने जब यह उपन्यास पढ़ा तो वे डर गए। तुरंत ही उन्होंने अपने वकील से परामर्श किया। उनके वकील ने साफ कह दिया कि "ऐसे का ऐसा छापने पर राजद्रोह का मुकदमा निश्चय ही चल सकता है।" अतः सुधीर बाबू ने शरत्चंद्र से कुछ हेर फेर (उपन्यास में) करने को कहा किंतु शरतचंद्र ने साफ कह दिया कि मैं इस उपन्यास में एक 'कॉमा', 'फुलस्टाप' तक न बदलूंगा। शरतचंद्र का उत्तर सुनकर सुधीर बाबू ने उसे छापने का साहस नहीं किया। अंततः रमाबाबू ने इस

उपन्यास को छापने का दायित्व अपने सिर ले लिया। प्रकाशन की समस्या सुलझी तो प्रेस वालों ने समस्या खड़ी कर दी। बहुत प्रयत्न के बाद 'काटन प्रेस' में इसे छापने का प्रबंध हुआ। उधर सरकार की तरफ से एडवोकेट बी.एल. मित्र 'राजद्रोह' का मुकदमा चलाने की सलाह दे चुके थे। इस बीच उपन्यास बाजार में आने के लिए तैयार हो गया। प्रश्न यह था कि प्रकाशक की जगह किसका नाम दिया जाए। 'उमा प्रसाद मुखर्जी' ने यह दायित्व अपने सर लिया, और पुस्तक एक लंबी यात्रा के बाद प्रकाशित हुई।

सरकार तुरंत ही मुकदमा चलाने के लिए आतुर हो उठी। उस समय सरकारी वकील 'तारकनाथ साधु' थे जो स्वयं साहित्य में काफी रूचि रखते थे। तथा शरत्चंद्र एवं उमा प्रसाद दोनों से ही उनका बड़ा घनिष्ठ संबंध था। उन्होंने कहा "मुकद्दमा चलाने से पहले एक बार सोच लीजिए। इस पुस्तक के लेखक हैं बंगाल के लोकप्रिय कथाशिल्पी शरत्चंद्र और प्रकाशक हैं स्वनामधन्य आशुतोष मुकर्जी के छोटे बेटे श्री उमा प्रसाद मुकर्जी।"[1] सरकार जानती थी कि मुकद्दमा चलाने पर लोगों में विद्रोह भड़केगा। अतः सरकार ने इस पुस्तक को जब्त कर लेने का फैसला किया।

बीस दिन के भीतर पुलिस हरकत में आ गयी। किंतु तब तक काफी देर हो चुकी थी। पुस्तक का पहला संस्करण लगभग 3 हजार प्रतियों का छापा गया। सब–के–सब तब तक बिक चुके थे। तलाशी में पुलिस को बंगवाणी कार्यालय में एक भी प्रति नहीं मिली। किसी तरह पुलिस अधिकारी के अनुरोध पर बड़ी मुश्किल

से रमा बाबू ने अपनी बहन के घर से एक प्रति लाकर दी और पुलिस उस प्रति को लेकर चली गयी। पहले–पहल यह पुस्तक बाजार में 50 रू. में बिकी और मांग बढ़ने पर लोग इसे सौ–सौ रुपये में पढ़ने को तैयार थे। परंतु दूसरा संस्करण तो निकलने का कोई प्रश्न ही नहीं था। विप्लवियों के बीच यह उपन्यास 'बाइबिल' की भांति पूजा जाने लगा। क्रांतिकारियों के घर पर धर्मग्रंथों के स्थान (पवित्र स्थान) पर 'पथेरदाबी' को रखा जाने लगा।

उधर शरत्चंद्र भी काफी जोश में थे, वह इस उपन्यास का दूसरा भाग लिखने को तैयार हो गए। वह लोगों को यह दिखाना चाहते थे कि 'पथेरदाबी' का अंत नहीं हुआ है। 'भारती' भारत आकर काम करती है किंतु उमा बाबू के लिए इसे छापना अब संभव नहीं था। उन्होंने एक फाइल में शरत्चंद्र के लिखे पन्नों को वापस लौटा दिया। व्यथा भरे कंठ में शरत्चंद्र ने अपने अंतिम शब्द में यही कहा कि 'पथेरदाबी' यदि मैं पूरा न कर सका तो क्या हुआ मेरे देश का कोई और व्यक्ति इसे पूरा अवश्य करेगा।

'पथेरदाबी' के जब्त होने पर भी शरत्बाबू खाली नहीं बैठे उन्होंने इस फैसले के खिलाफ हाईकोर्ट जाने का फैसला किया किंतु उनके मित्र निर्मलचंद्र ने ऐसा करने से मना किया क्योंकि वे जानते थे कि हाईकोर्ट में सरकार का प्रभाव है।

'पथेरदाबी' ने विप्लवियों को ही नहीं तमाम बंगाल के 'साहित्य दीवानों' को पागल बना दिया। सरकारी हुकुमत पर यह उपन्यास एक बिजली की कहर की तरह गिरा और इसकी रोशनी से मानों पूरी हुकूमत चौंधिया गयी। शरतचंद्र भी उत्साहित

थे। उन्होंने सोचा मुकद्दमा न सही एक जन आंदोलन तो किया ही जा सकता है। आंदोलन के सहायतार्थ शरत्बाबू ने गुरुवर रवींद्रनाथ को याद किया, तुरंत ही उत्तर आया कि पुस्तक की एक प्रति भेज दो। किंतु पढ़कर गुरुवर ने जो प्रतिक्रिया दिखाई वह बड़ी आश्चर्यजनक थी। कविवर ने शरत् बाबू की परोक्ष प्रशंसा तो की लेकिन उनके खिलाफ सरकार ने कोई ठोस कदम न उठाने पर उन्होंने इसे सरकार की "उदार दृष्टि" कही। ("तुम्हें कुछ न कहकर सिर्फ तुम्हारी पुस्तक को जब्त कर लेना लगभग क्षमा करना है। शरतचंद्र के नाम रवींद्रनाथ का पत्र, 27 माघ 1933 / फरवरी, 1927 ई.")[2]

उत्तर पढ़कर शरत्चंद्र के उत्साह पर मानों एकाएक विराम सा लग गया। बार–बार उनके मन में यही ख्याल आ रहा था कि गुरुवर ने पथेरदाबी पढ़कर अंग्रेजों की सहिष्णुता की प्रशंसा की है। बहरहाल उन्होंने इस पत्र का जिक्र किसी से नहीं किया लेकिन वे ज्यादा दिन चुप न रह सके। राधा रानी देवी को उन्होंने लिखा कि – "...एक बात तुमको बताता हूं। किसी से कहना मत। 'पथेरदाबी' जब जब्त हो गया था तब रवि बाबू के पास जाकर कहा कि यदि आप प्रतिवाद करेंगे तो काम होगा। पृथ्वी के लोग जान सकेंगे कि सरकार किस तरह साहित्यिकों के साथ विचार करती हैं। तब भी संसार के लोग जान तो लेंगे। उनको किताब दे आया। उन्होंने जवाब में लिखा, पृथ्वी में धूमकर देखा है। अंग्रजों की राजशक्ति के समान सहिष्णु और क्षमाशील राजशक्ति और कहीं नहीं है। तुम्हारी पुस्तक पढ़कर पाठकों का मन अंग्रेजी सरकार के प्रति अप्रसन्न हो उठेगा। तुम्हारी पुस्तक को

जब्त करके तुमको कुछ नहीं कहा। प्रायः क्षमा ही कर दिया। इसी क्षमा के ऊपर निर्भर करके गवर्नमेंट की निंदा करना साहस की विडंबना है।"[3]

इस प्रकार 'पथेरदाबी' के लिखने से लेकर प्रकाशन और प्रकाशन के बाद तक का इतिहास काफी रोमांचकारी रहा। 'पथेरदाबी' लिखने के बाद शरत्बाबू के जेल जाने की संभावना बहुत दिनों तक बनी रही। स्थिति बहुत तनावपूर्ण हो गयी थी।

'पथेरदाबी' में वर्णित रंगून/वर्मा के स्थान असली हैं। संभवतः पात्र भी असली हो (नाम और चरित्र में थोड़े फेरबदल के साथ)। शरत्चंद्र क्रांतिकारियों के संस्पर्श में हमेशा से ही रहे हैं, अतः पात्र के यथार्थ में कोई अस्वाभाविकता नजर नहीं आती है।

यह उपन्यास शरत्चंद्र के बाकी उपन्यास से अलग हट कर है। शरत्चंद्र मूलतः पारिवारिक समस्याओं के चित्रकार है। खासकर मध्यवर्गीय जीवन तथा जीवन के यथार्थपरक चित्रण में शरतचंद्र को महारत हासिल है। सामाजिक समस्याओं से घिरा हुआ व्यक्ति एवं उसका अंतःद्वंद्व का चित्रण यही शरत्चंद्र के कथा साहित्य का विषय है। वैसे 'पथ के दावेदार' का भी एक सामाजिक तात्पर्य है, किंतु सामाजिक तात्पर्य होने के बावजूद यह उपन्यास शुद्ध राजनैतिक दृष्टि से विश्लेषण की मांग करता है। शरत् बाबू मानते थे कि प्रत्येक उपन्यास में एक निहित समस्या का चित्रण किया जाता है, वही समस्या कथा में वर्णित समस्या होती है तथा कथा का पात्र शुरु से अंत तक उसी समस्या के घेरे में घिरा रहता है। साहित्यकार का

कर्तव्य है कि कथा में निहित समस्याओं को अभिव्यक्ति प्रदान करें और अपने सर्वसंभाविक परिपूर्णता में उसे पाठक के समक्ष उपस्थित करे। शरत्चंद्र के मत से एकमत होते हुए अगर प्रस्तुत उपन्यास पर विचार करें तो हम पाएंगे कि 'स्वाधीनता' ही इस उपन्यास का मूल मंत्र है और समस्या भी। उपन्यास का प्रत्येक प्रमुख पात्र इस समस्या के घेरे में घिरा हुआ है।

उपन्यास के आरंभ में ही हम अपूर्व को अदालत में 20 रूपये जुर्माना देते हुए पाते हैं। कारण मात्र इतना ही है कि अपूर्व का झगड़ा उसके घर के ऊपर रहने वाले एक व्यक्ति से हो जाता है। "फैसला उसी दिन हो गया – तिवारी छूट गया, लकिन अपूर्व पर 20 रूपये जुमाना हो गया। बिना अपराध दण्डित होकर, उसका मुंह सूख गया।" "...लोग समझते हैं कि, किसी 'हालदार' के साथ जोसेफ' का मुकदमा चलने पर अंग्रेजी न्यायालय में क्या होता है।"[4] यह अंग्रेजी हुकूमत का एक तरफा शासन है। यहां रहनेवाला ईसाई व्यक्ति अगर गलती करे भी तो सजा निर्दोष को ही मिलती है। इस वाक्य की चरम अभिव्यक्ति तब और भी स्पष्ट मिलती है जब अपूर्व के कपड़े पर एक गोरा पांव रखकर चला जाता है और स्टेशन मास्टर इस घटना पर अपूर्व को ही कोसते हैं। "एक फिरंगी लड़का भागता हुआ आकर, भीड़ में पैर बढ़ाकर, अपूर्व के सफेद सिल्क के कपड़े के ऊपर जूते का दाग लगा गया। हिंदुस्तानियों के इस दल से वह अपने को मुक्त कराने के लिए खींचातानी कर रहा था, इस पर एक ने उसे झकझोरते हुए कहा – "अरे बंगाली बाबू, अगर साहब लोगों का शरीर छूएगा, तो यहां एक साल की जेल हो जाएंगी। जाओ भागो! एक

ने कहा – अरे बाबू है – धक्का मत दो।" अपूर्व सीधे स्टेशन मास्टर के कमरे में गया स्टेशन मास्टर अंग्रेज थे मुंह उठाकर उन्होंने देखा। अपूर्व ने जूते का दाग दिखाकर, घटना का वर्णन किया, वे आज्ञा पूर्वक बोले – यूरोपियन की बेंच पर तुम क्यों बेठे?" अपूर्व ने कहा मुझे ज्ञात नहीं था। 'तुमको मालूम कर लेना चाहिए था!'

'क्या इसलिए उन्होंने एक भले आदमी के ऊपर हाथ उठाया?' साहब ने दरवाजे की ओर हाथ बढ़ाकर कहा – गो–गो–गो। चपरासी इसको बाहर कर दो।'[5]

उपन्यास की वास्तविक शुरुआत वहां से होती है जहां उपन्यास का केंद्रीय पात्र सव्यसाची का आगमन होता है। लेखक पुलिस कर्मचारी निमाई बाबू के मुख से पाठके के समक्ष सव्यसाची का परिचय कराता है। "पर वह है राजद्रोही! राजा के शत्रु। हां, शत्रु कहलाने योग्य मनुष्य तो अवश्य है। बलिहारी है उनकी प्रतिभा की जिन्होंने इस लड़के का नाम सव्यसाची रखा था। बंदूक – पिस्तौल चलाने में इनका लक्ष्य अचूक होता है, तैरकर पद्मा नदी को पार कर जाते हैं, कोई बाधा नहीं पड़ती। इस समय यह अनुमान किया गया है कि चटगांव के मार्ग से पहाड़ पार करके इन्होंने बर्मा में प्रवेश किया है।.... यह लड़का दस–बारह भाषाओं में इस प्रकार वार्तालाप कर सकता है कि किसी विदेशी के लिए यह जान लेना कठिन है कि ये कहां के रहने वाले हैं? सुना जाता है कि जर्मनी के किसी नगर में इन्होंने डॉक्टरी पढ़ी है, फ्रांस में इंजीनियरिंग पास किया है। इंग्लैंड का नहीं जानता; लेकिन जब वहां रह चुका है, तब अवश्य कुछ पास किया होगा।"[6] इस प्रकार

शरत्चंद्र सव्यसाची के चरित्र को विराट रूपाकार प्रदान कर पाठक के समक्ष चित्रित करते हैं। ऐसा भव्य चित्र सुनकर कोई भी उस व्यक्ति से बिना मिले, देखे उस पर मुग्ध हो सकता है। अपूर्व की भी यही स्थिति होती है। "तुम तो हम लोगों की भांति सीधे–सादे मनुष्य नहीं हो तुमने देश के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया है, इसीलिए देश की नावें तुमको पार नहीं करा सकतीं, तैरकर तुम्हें पद्मा नदी को पार करना पड़ता है। इसलिए देश का राजपथ तुम्हारे लिए अवरुद्ध है, दुर्गम वन–पर्वत लांघने की तुम्हें आवश्यकता पड़ती है। तुमको शतकोटि नमस्कार है।"[7] पल भर में ही 'सव्यसाची' अपूर्व के पूरे दिलो दिमाग में छा जाते हैं और अपने चाचा (निमाईबाबू) से वह अपरिचित राजद्रोही कहीं अधिक आत्मीय लगने लगता है। "मैं उनको चाचा कहता हूं। वे हमारे आत्मीय हैं, शुभाकांक्षी हैं, लेकिन क्या इसी से वे मेरे लिए देश से बढ़कर हैं? नहीं! वरन् जिनको वे देश के रूपये खर्च करके, देश के ही आदमियों द्वारा, शिकार की भांति पकड़ने के लिए घूम रहे हैं, वे ही मेरे परम आत्मीय हैं।"[8]

धीरे–धीरे उपन्यास की कथा आगे बढ़ती है। अपूर्व–भारती के मुख से 'पथ के दावेदार' संस्था के बारे में सुनाता है साथ ही भारती अपूर्व को इस संस्था का सदस्य बनने का आग्रह करती है। 'पथ के दावेदार' को व्याख्यायित करती हुई भारती कहती है कि "हम सब राही हैं। मनुष्यत्व के मार्ग से मनुष्य के चलने के सब प्रकार के दावे स्वीकार करके, हम सभी बाधाओं को ठेलकर चलेंगे। हमारे बाद जो लोग आवेंगे, वे ताकि बाधाओं से बचकर चल सकें, यही हमारी प्रतिज्ञा है।"[9] सुमित्रा

देवी इस संस्था की अध्यक्षिका हैं तथा सव्यसाची इसका प्रधान संचालक है। उनको डाक्टर कहकर सभी संबोधित करते हैं।

शरत्चंद्र मजदूरों के प्रति सहानुभूति रखते थे। प्रेमचंद की तरह शरत्चंद्र भी स्वाधीनता आंदोलन में मजदूरों की भूमिका को रेखांकित करते हैं। 'पथ के दावेदार' संस्था के कहने पर मजदूरों की सभा बुलाई जाती है। सभी कारीगर एवं मजदूर अपना काम बंद करके सभा में हिस्सा लेते हैं। यहां तक कि अपूर्व के ऑफिस में काम करने वाले रामदास को जब इस सभा के बारे में पता चलता है, तो वह भी चलने के लिए तैयार हो जाता है। अपूर्व कहता है कि आप ग्रहस्थ व्यक्ति हैं, इतना बड़ा दायित्व आप कैसे ले पाएंगे? इस पर रामदास जी कहते हैं कि "गृहस्थों को क्या देश–सेवा अधिकारी नहीं? जन्मभूमि क्या केवल आप ही लोगों की है? ... पराधीन देश की सेवा करने को तो विपत्ति नहीं कहते अपूर्व बाबू। हिंदुओं में विवाह एक धर्म है, मातृ–भूमि की सेवा उससे बड़ा धर्म है।"[10] पश्चात दोनों फायर मैदान की ओर चल देते हैं। जहां सुमित्रा सभा को संबोधित कर रही थी। अंग्रेजी हुकूमत सभा को भंग करने के लिए पुलिस भेज देती है। और पुलिस वहां पहुंचकर सुमित्रा से सभा भंग करने को कहती है। इस पर पुलिस और सुमित्रा के बीच झड़प शुरु हो जाती है – "सुमित्रा बोली – हां हो सकती है। जिस देश में सरकार का अर्थ ही अंग्रजी व्यवसायी है, और समस्त देश के रक्त को चूसने के लिए ही जिस देश में यह भयंकर यंत्र खड़ा किया... बात पूरी न हो पायी थी कि गोरे के रक्तिम नेत्रों से आग सी निकलने लगी। कड़ककर बोला – फिर ऐसी बातें यदि मुंह से निकलीं, तो

मुझे आपको गिरफ्तार करना पड़ेगा। सुमित्रा उसकी मुंह की ओर देखकर हंस पड़ीं, बोली साहब, मैं अस्वस्थ और बहुत दुर्बल हूं। नहीं तो केवल दूसरी बार क्यों, इस बात को एक सौ बार चिल्ला–चिल्लाकर इन लोगों को सुना देती; लेकिन आज मुझमें वह शक्ति नहीं है।"[11] अंततः वही रामदास ने सुमित्रा के अधूरे कार्य को पूरा किया। "इन विलायती कुत्तों को, जिन लोगों ने हमारे और तुम्हारे विरुद्ध ललकारा है, वे तुम्हारे कारखानों के मालिक हैं। वह नहीं चाहते कि कोई तुम्हें, तुम्हारी दुःख दुर्दशा की बातें बताए। तुम उनके कारखाने चलाने और बोझा ढोने वाले जानवर हो, लेकिन फिर भी तुम उनकी ही तरह मनुष्य हो। उसी प्रकार पेट भर भोजन करने का, उसी तरह आनंद करने का अधिकार, तुमको भी भगवान ने दिया है। यदि इस सत्य को समझ सको कि तुम लोग भी मनुष्य हो, तुम लोग चाहे जितने दुःखी, जितने दरिद्र, जितने अशिक्षित क्यों न हो, फिर भी मनुष्य हो। तुम्हारी मनुष्यता के दावे को, किसी बहाने कोई भी नहीं रोक सकता। यह चन्द कारखानों के मालिक तुम्हारे सामने कुछ नहीं हैं। यह धनिकों के विरुद्ध दरिद्रों की, आत्मरक्षा की लड़ाई है। इसमें देश नही हैं, जात नही हैं, धर्म नही है , मतवाद नहीं है – हिंदू नहीं है, मुसलमान नही हैं, जैन, सिख कोई कुछ भी नहीं – केवल है धनोन्मत मालिक और श्रमिक वर्ग।"[12]

शरतचंद्र मजदूरों की दयनीय हालत से परिचित थे तथा वे जानते थे कि देश की मुक्ति मजदूरों की मुक्ति के बिना संभव नहीं है। इस देश के मजदूर काम तो पूरी निष्ठा के साथ करते हैं किंतु कामोपरांत उन्हें पूरी मजदूरी भी नही मिल

पाती है। अपने तथा अपने परिवारों के लिए वह दो वक्त की रोटी के लिए सदा ही संघर्षरत रहते हैं। और ऐसी स्थिति में अगर वह बीमार पड़ जाए तो उन गरीबों के लिए भगवान ही उनके प्रथम और अंतिम सहारा होते हैं। शरत्चंद्र ने 'पथ के दावेदार' में एक मजदूर (पंचकौड़ी) के मुंह से पूरे देश के मजदूरों की वास्तविक स्थिति का चित्रण किया है।

"बेटी, लड़की को खूनी आंव आ रहा है; संभवतः बचेगी नहीं। लड़के को कल से फिर बुखार चढ़ रहा है, पास में एक पैसा नहीं है कि एक–दो खुराक दवा ला सकूं, या एक कटोरी साबू दाना या बार्ली ही पकाकर खिलाऊं। उसके दोनों नेत्र आंसुओं से भर गए।

अपूर्व बोला पैसा क्यों नहीं है?

वह फिर बोला – 'पुली' की जंजीर गिर जाने से, दाएं हाथ में चोट लग गयी है, लगभग एक महीने से मैं काम पर नहीं जा सका। पैसा कहां से रहेगा बाबू जी?

अपूर्व बोला – कारखाने वाले इसका प्रबंध नहीं करते?

'मजदूर के लए प्रबंध? वह तो कह रहे हैं कि काम न कर सको, तो मकान छोड़ दो, ठीक होकर आना – तो काम दे दूंगा। ऐसी दशा में भला कहां जाऊं? छोटे साहब के हाथ–पैर जोड़कर एक सप्ताह और रह सकूंगा।"[13]

'सव्यसाची' इस उपन्यास का प्रमुख आकर्षण है। वह कथा के बीच–बीच में आकर अपने उत्तेजक भाषण से सबको मुग्ध कर देते हैं। इस चरित्र ने ब्रिटिश

सरकार की वास्तविक छवि को पाठक के समक्ष उपस्थित कर दिया। वह साफ कहते हैं, हर वह व्यक्ति जो अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध आवाज उठाएगा वे सभी सरकार के शत्रु हैं। वह चाहे जो भी हों 'सव्यसाची' अंग्रेजों का दुश्मन इसलिए है कि उन्होंने देश को स्वाधीन करने का संकल्प किया है। भारती के समक्ष सव्यसाची इस तथ्य को उजागर करता है कि संसार में उनसे बड़े और कोई शत्रु जाति नहीं है। ये लोग व्यवसायी हैं अपने फायदे के लिए ये लोग कुछ भी कर सकते हैं। "हमारा देश उनके हाथ में चला गया है, इसी कारण मैं उनका शत्रु नहीं हूं। किसी दिन मुसलमानों के हाथ में भी यह देश चला गया था; लेकिन संसार में समस्त मानवता की इतनी बड़ी शत्रु जाति और कोई भी नहीं है! वही उन लोगों का व्यवसाय है, यही इनका मूलधन है! यदि तुमसे बन सके तो देश के सभी लोगों को, चाहे वे पुरुष हो या स्त्री, यह सत्य सिखा देना।"[14]

उपन्यास में 'सस्पेंस' का अभाव नहीं है। कथा में अचानक तब मोड़ आता है, जब अपूर्व हालदार पुलिस के दबाव में आकर उनके सामने 'पथ के दावेदार' संगठन का खुलासा कर देते हैं। सव्यसाची, भारती को छोड़कर संगठन के बाकी सभी सदस्य अपूर्व को मौत की सजा सुनाते हैं।

"सभासदगण! आप लोग इस अपराध की सजा नियत करते हैं?

सभी एक साथ बोल उठे – 'डेथ' (प्राणदण्ड)"[15]

डाक्टर ने इस मत का विरोध किया। उनका कहना था कि "अपूर्व बाबू ने जो कर डाला है, वह तो लौट नहीं सकता – उसका फल हम लोगों को भोगना ही

पड़ेगा। सजा देने पर और न देने पर भी भोगना पड़ेगा लेकिन मेरा कहना है कि इसकी आवश्यकता नहीं।"[16] अपूर्व को सव्यसाची ने अभयदान दिया। वह कहते हैं – "अपूर्व ट्रेटर नहीं है; स्वदेश को वह संपूर्ण हृदय से प्यार करता है; लेकिन बहुत ही कमजोर है।"[17] उपन्यास का यह दृश्य सव्यसाची की उदारता के साथ–साथ यह भी दर्शाता है कि, यह उपन्यास विप्लवियों पर अवश्य लिखा गया है, किंतु इसका उद्‌देश्य हिंसावाद को बढ़ावा देना नहीं है। एक स्थान पर सव्यसाची कहता है – "नर–हत्या मेरा व्रत नहीं बहिन!" आगे वे कहते हैं – "...भारती, विप्लव का अर्थ मारकाट और खून–खराबी ही नहीं है। विप्लव का अर्थ है – अत्यंत शीघ्र, आमूल परिवर्तन।"[18]

'सव्यसाची' एक सच्चा देशभक्त है। वह जानता है कि इस देश के अधिकतर लोग कृतघ्नता और मूढ़ता के शिकार हैं। इस देश की यह विडंबना है कि यहां कोई किसी की जरूरत पड़ने पर सहायता नहीं करता है। श्रद्धा और सहानुभूति का प्रायः लोप सा हो गया है। किंतु इसका यह मतलब नहीं है कि हम अपने देश–प्रेम को छोड़ दें और विदेशियों का गुण–गान करें। जो व्यक्ति देश से सच्चा प्यार करते हैं उन्हें औरों की फिक्र नहीं होती है। वह अपने मार्ग और उद्‌देश्य पर अडिग रहते हैं। "देश का अर्थ तुमने क्या समझ लिया है – लंबी–चौड़ी जमीन, वह नदी और पहाड़? केवल एक अपूर्व को लेकर ही तुम्हें जीवन में धिक्कार पैदा हो गया, वैरागिन होना चाहती हो। और यह तो नहीं जानती कि यहां सैकड़ों हजारों अपूर्व ही नहीं, उनके बड़े भैया लोग भी विचरण करते हैं, और पराधीन देश का सबसे

बड़ा अभिशाप यह कृतघ्नता ही तो है। जिनकी सेवा करोगी, वे ही तुम्हें संदेह की दृष्टि से देखेंगे; जिनके प्राण बचाओगी, वे ही तुमको बेच देना चाहेंगे! मूढ़ता और कृतघ्नता, तुम्हें पग–पग पर सुई की भांति चुभती रहेगी। न तो श्रद्धा है, न सहानुभूति है यहां। कोई पास तक नहीं बुलावेगा, कोई सहायता देने नहीं आवेगा, विषैला सांप समझकर लोग दूर हट जाएंगे। देश का प्यार करने का यही हमारा पुरस्कार है भारती, इससे अधिक यदि कुछ दावा करना हो तो वह परलोक में ही हो सकता है।"[19]

'सव्यसाची' का प्रमुख लक्ष्य आजादी प्राप्त करना है। भारती से वह कहते हैं कि मजदूरों के छोटे–मोटे हड़ताल से कुछ भी न होगा। उन्हें इस बात का इल्म है कि आजादी इस छोटी–मोटी हड़ताल से हासिल होने वाली नहीं है। आजादी क्रांति मांगती है। सव्यसाची स्पष्ट कहते हैं कि इन छोटी–मोटी हड़तालों के लिए 'पथ के दावेदार' की सृष्टि नहीं की गयी है, 'पथ के दावेदार' का लक्ष्य इससे कहीं बड़ा है। "इस तरीके से इनकी भलाई नहीं की जा सकती ; इनकी भलाई की जा सकती है, केवल विप्लव के विचार से और उसी मार्ग से चलने के लिए ही पथ के दावेदार की मैंने सृष्टि की है।... हंगरी में ऐसा ही हुआ है, फ्रांसीसियों के खून से, उस दिन नगर के सभी राजपथ लाल हो उठे थे। जापान में तो अभी उसी दिन की बात है – उस देश में भी मजदूरों के दुःख का इतिहास बिंदु मात्र भी इससे भिन्न नहीं है। मनुष्य के चलने का रास्ता मनुष्य उपद्रव किए बिना कभी नहीं छोड़ता।"[20] ... केवल विप्लव के लिए ही विप्लव नहीं मचाया जा सकता, भारती! उसके लिए कोई न कोई

अवलम्ब अवश्य चाहिए। वही तो मेरा अवलंब है। जो मूर्ख इस बात को नहीं जानता; केवल मजदूरी की कमीबेशी के लिए हड़ताल करना चाहता है, वह उन लोगों का भी सर्वनाश करता है और देश का भी।"[21] 'सव्यसाची' विप्लव के आदर्शों को पूरी तरह मानता है। स्वाधीनता ही विप्लवी का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। घर–द्वार, रिश्तेदार, आदि सभी देश के समक्ष कोई मायने नहीं रखते हैं। सव्यसाची को स्वतंत्रता की प्यास इतनी है कि, वह अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करते हैं। उसे पता है कि पकड़े जाने पर उनकी एक ही सजा है 'फांसी' किंतु अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह निडर घूमते हैं। "पर मैं तो क्रांतिकारी हूं। मुझमें मोह नहीं, दया नहीं, स्नेह नहीं, पाप–पुण्य मेरे लिए मिथ्या परिहास है। ये सब अच्छे काम, मेरे सामने लड़कों के खेल हैं। भारत की स्वाधीनता ही मेरा एकमात्र लक्ष्य है – मेरा एकमात्र साधन है। मेरे लिए यही अच्छा है और यही बुरा है – इसके सिवा इस जीवन में और मेरे लिए कहीं भी कुछ नहीं है।"[22] 'सव्यसाची' जैसा महान व्यक्ति जिस स्थिति में रहता है उसे देखकर भारती का कलेजा कांप उठता है। "...भारती उस तरफ देख न सकी, घृणा और छाती के अंदर की असीम रूलाई की वेदना से उसने मुंह फेर लिया, मानो सहस्रधाराओं में बहकर निकलना चाहने लगी। हाय रे देश! हाय रे स्वतंत्रता की प्यास! जरात् में कुछ भी इन लोगों ने अपना कहकर बाकी नहीं रखा। यह घर, यह भोजन, यह घृणित संबंध, इस तरह जंगली पशुओं का सा जीवन–यापन क्षण भर के लिए, मृत्यु भी भारती को इससे बहुत अधिक अच्छी और सहने योग्य मालूम हुई। पराधीनता की वेदना ने, क्या इन लोगों के इस

जीवन के और सभी वेदना–बोध को एकदम धोकर साफ कर दिया है? कहीं कुछ भी बाकी नहीं है?"[23]

स्वाधीनता आंदोलन में स्त्रियों की भूमिका पर लेखक सचेत है। उन्हें पता है कि स्वाधीनता प्राप्ति के लिए स्त्रियों का सक्रिय योगदान अति आवश्यक है। वर्मा में स्त्रियों को कुछ स्वतंत्रता मिली हुई है। मजदूरों की बस्ती में स्त्री–पुरुष सभी नशे में उन्मत्त होकर अपनी छुट्टी के दिन बिताते हैं। भारती और सुमित्रा के रूप में 'पथ के दावेदार' को ऐसे स्त्री पात्र मिले हैं जो सक्रिय रूप से अपना योगदान संगठन को देती चली आ रही हैं। देश के लिए नवतारा भी अपने दांपत्य जीवन छोड़ने को तैयार हो जाती है।[24] वर्मा में स्त्रियों की स्थिति को देखकर 'सव्यसाची' कहते हैं – "स्त्रियां इस देश में स्वतंत्र हैं, स्वतंत्रता का मार्ग वे समझेंगीं। उन लोगों की मुझे बड़ी जरूरत है। यदि कभी इस देश में आग जलती हुई देखो, तो कहीं भी तुम रहना भारती, उस समय मेरी बात याद कर लेना कि उस आग को स्त्रिया ही जला रही हैं।"[25]

'पथ के दावेदार' में कोई विशेष आंदोलन की गूंज नहीं है। प्रत्यक्ष रूप से इस उपन्यास में किसी आंदोलन के प्रभाव को पाना मुश्किल है। किंतु फिर भी यह उपन्यास सरकार द्वारा जब्त हुआ, और यह प्रक्रिया अति शीघ्र ही की गयी। प्रश्न यह उठता है कि इस उपन्यास में ऐसा क्या है जिसके लिए सरकार इसे जब्त करने को उतावले हो रही थी। दरअसल यह उपन्यास अंग्रेजी शासन, शोषण के नग्न रूप को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है। 'सव्यसाची' के भाषणों में हम अंग्रेजी हुकूमत

की वास्तविक स्थिति से परिचित होते हैं। "संसार की बहुत–सी जातियां स्वाधीन हैं – उससे बढ़कर दूसरा कोई गौरव मानव–जन्म के लिए नहीं है! उस स्वाधीनता का दावा करना, उसके लिए चेष्टा करना तो बहुत दूर की बात हुई, उसकी कामना करना, कल्पना करना भी अंग्रेजों के कानून में राजद्रोह माना गया है। मैं उसी अपराध का अपराधी हूं। चिरकाल तक पराधीन रहना ही इस देश का कानून है। इसलिए ये सब प्रवीण, पूज्य व्यक्ति, कानून से बाहर, किसी दिन कुछ भी दावा नहीं करते।"[26] अंग्रेजी हुकूमत इस देश का राजनीतिक ही नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक रूप से भी शोषण कर रही है। यानि जनता को शोषण के सारे रूप सहने पड़ रहे हैं। जनता के पास अब जीविकोपार्जन के लिए कुछ भी नहीं है – सव्यसाची भारती से कहता है "...इस बंगाल के दस लाख नर–नारी, प्रतिवर्ष मलेरिया से मर जाते हैं। एक–एक जंगी जहाज का दाम कितना होता है, जानती हो? उनमें से केवल एक के ही खर्च से कम से कम लाख माताओं के आंसू सदा के लिए पोंछे जा सकते हैं – कभी इस बात पर भी तुमने विचार किया? शिल्प गया, वाणिज्य गया, धर्म गया, ज्ञान गया – नदियों की छाती सूखकर मरुस्थल भूमि बनती जा रही है, किसान भरपेट अन्न खाने को नहीं पाता, शिल्पकार विदेशियों के द्वार पर मजदूरी करता है – देश में जल नहीं, अन्न नहीं, गृहस्थ की सर्वोत्तम संपदा गोधन भी नहीं। दूध के अभाव में उनके बच्चों को मरते देखा है भारती?... लज्जाहीन नग्न यथार्थ और पशुशक्ति का एकांत प्राधान्य ही उसका मूल मंत्र है। सभ्यता के नाम से दुर्बलों और असमर्थों के विरुद्ध मनुष्य को बुद्धि ने इसके पहले

इतने बड़े घातक मूसल का आविष्कार नहीं किया था। पृथ्वी के नक्शे की तरफ अपनी आंखें उठाकर देखो, यूरोप की विश्वग्रासी भूख से कोई भी दुर्बल जाति आज अपनी रक्षा नहीं कर पाती। देश की मिट्टी, देश की ही संपदा से, देश की संतान किस अपराध से वंचित हुई तुम जानती हो, भारती! एकमात्र शक्तिहीनता के अपराध से! फिर भी न्याय–धर्म ही सबसे बड़ा धर्म है, और विजित जाति के अशेष कल्याण के लिए ही यह अधीनता की जंजीर उसके पैरों में पहनाकर, उस पंगु का सब तरह का उत्तरदायित्व ढोते रहना ही यूरोपीय सभ्यता का परम कर्तव्य है।"[27]

ब्रिटिश शासन का यही नग्न यथार्थ तथा उसके परिणाम को उपन्यास के नायक सव्यसाची, पूरे उपन्यास में चित्रित करता चलता है। नग्न चित्रण ही इस उपन्यास का उद्देश्य है, और इसी में इसकी सार्थकता भी है। एक ही प्रश्न स्वाधीनता को लेकर पूरा उपन्यास का 'प्लॉट' बुना गया है। डाक्टर की विदायी के साथ ही उपन्यास का अंत होता है। 'पथ के दावेदार' संगठन को अपना लक्ष्य दिखाकर डाक्टर विदा लेते हैं, क्योंकि, उनको अभी भी बहुत काम करना है। किसी एक स्थान पर रुके रहना न तो उनके लिए और न ही देश के लिए हितकारी है। भीषण वर्षा में ही डाक्टर अपनी पेटी लेकर निकल पड़ता है। "सहसा भीषण कड़कड़ाहट के साथ पास ही शायद कहीं बिजली गिरी और उसकी ही चमचमाती हुई विद्युत–शिखा ने, केवल निमेष मात्र के लिए आकाश और धरातल को उद्भाषित करके, एक बार डाक्टर का अंतिम दर्शन करा दिया।"[28]

'पथ के दावेदार' एक राजनैतिक उपन्यास होते हुए भी इसका एक सामाजिक तात्पर्य है। अपूर्व एक शुद्धाचारी ब्राह्मण है। उनका आचरण एक हिंदू–ब्राह्मण के घरों के जैसा ही है। किंतु इस शुद्धाचारी ब्राह्मण की प्राण रक्षा एक ईसाई लड़की 'भारती' के हाथों होती है। अपूर्व जब अस्वस्थ हो जाता है तो भारती उसकी सेवा करती है। अपूर्व भारती के हाथों जल सेवन करता है। और धीरे–धीरे दोनों के प्रेम संबंधों में और प्रगाढ़ता आ जाती है। शरत्चंद्र की भारती मानों पूरे समाज के समक्ष यह प्रश्न करती है कि "यदि म्लेच्छ प्राणदान करे, तो उसमें कोई दोष नहीं;"[29] फिर बाकी चीजों में यह भेद क्यों? यह एक ज्वलंत सामाजिक प्रश्न है, जिस पर शरत्चंद्र ने दृष्टिपात किया है, भारती जानती है कि अपूर्व ब्राह्मण है किंतु फिर भी वह अपूर्व से प्रेम करती है और प्रेम में अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है। भारती का प्रेम सामाजिक बंधनों से परे है।

'पथ के दावेदार' पारंपरिक उपन्यास की मान्यताओं को खंडित भी करता है। उपन्यास का केंद्रीय पात्र सव्यसाची है। वही इस उपन्यास का नायक है जिसके चरित्र को व्यापक और भव्य कर दर्शाया गया है। और प्रमुख पात्री भारती है वह इस उपन्यास की नायिका है। उसी के इर्द–गिर्द 'पथ के दावेदार' का कथा संसार घूमता है। अब इन दोनों नायक और नायिका के संबंधों पर विचार किया जाए तो हम देखते हैं कि इन दोनों के बीच का संबंध पारंपरिक नायक–नायिका का संबंध नहीं है।

"शरत बाबू का मुख्य आकर्षण उनका कथारस तथा पात्रों की जीवंत रचना है। उनका हर उपन्यास उनकी जीवन–कहानी लगता है। ऐसा लगता है जैसे लेखक ही अपने समूचे रचना संसार में यहां से वहां तक व्याप्त हो। दूसरी विशेषता, उनके द्वारा जीवंत पात्रों की सृष्टि है। उनके पात्र पाठकों को बहुत शीघ्र ही अभिभूत कर लेते हैं। वे उनके आस–पास सजीव आकृतियों की तरह चक्कर काटने लगते हैं। किसी लेखक की पात्र सृष्टि से ऐसी आत्मीयता और अपनेपन का रिश्ता कला की मद्ध सिद्धि के बिना संभव नहीं होता। शरत की यही विशेषता उन्हें विश्व के महान रचनाकारों में स्थापित कर देती है। वे टालस्टाय, योस्तोवस्की, डिकेन्स, गोर्की, चेखव, अनातोलो, क्रौसे और तुर्गनेव के समकक्ष पहुंच जाते हैं। कला और शिल्प के शरत् बहुत मंजे हुए कलाकार हैं। वे यह जानते हैं कि कम शब्दों को खर्च करके अधिक से अधिक प्रभाव कैसे उत्पन्न किया जा सकता है। कम लिखकर या कम भावों में न बहकर या अतिविस्तार के मोह में न पड़कर प्रभाव की तीव्रता किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है शरत् ने बहुत कष्ट सहकर इस कला की सिद्धि प्राप्त की थी। उनकी भाषा अत्यंत सीधी–सादी घरेलू बंगला थी। हृदय की निश्छलता, सरलता और अनावेदन की सच्चाई के बल पर उन्होंने अपनी भाषा को अपनी बात कहने का सशक्त माध्यम बना लिया था।"[30]

संदर्भ

1 आवारा मसिहा, पृ.282
2 वही, पृ.285
3 वही, पृ.288
4 पथ के दावेदार' पृ.32–33
5 वही, पृ.29–30
6 वही, पृ.42–43
7 वही, पृ.45
8 वही, पृ.50
9 वही, पृ.80
10 वही, पृ.130
11 वही, पृ.138
12 वही, पृ.137
13 वही, पृ.121
14 वही, पृ.157
15 वही, पृ.160
16 वही, पृ.162
17 वही, पृ.163
18 वही, पृ.222
19 वही, पृ.170
20 वही, पृ.211
21 वही, पृ.212–213
22 वही, पृ.214
23 वही, पृ.183
24 वही, पृ.851
25 वही, पृ.186
26 वही, पृ.219
27 वही, पृ.225
28 वही, पृ.288
29 वही, पृ.34
30 विष्णु प्रभाकर, (शरत् एवं जैनेंद्र के उपन्यासों के वस्तु एवं शिल्प--पूर्वरंग)

तृतीय अध्याय

कर्मभूमि और स्वाधीनता आंदोलन

'कर्मभूमि' में समकालीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में विविध सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं को उद्‌घाटित किया गया है। इस उपन्यास में गांधीवादी दर्शन को भी साफ देखा जा सकता है।

'कर्मभूमि' का प्रकाशन 1932 ई. में हुआ। इस उपन्यास की कथा का ताना–बाना राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि में रचा गया है। मूल रूप से 'कर्मभूमि' की कथा 'अमरकांत' के परिवार के बिखराव की कथा है जो राष्ट्रीय आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में सार्थक हो उठता है। 'कर्मभूमि' में युगीन तीन आंदोलनों का 'सगुम्फन' है। पहला आंदोलन अछूतों को मंदिरों में प्रवेश दिलाने को लेकर है। दूसरा आंदोलन किसानों के लगान को आधा किए जाने की मांग को लेकर हैं तथा तीसरा आंदोलन शहरी मेहनतकश जनता के घर के लिए जमीन की मांग का है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में किसानों, दलितों की मुक्ति के प्रश्न को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़कर देखा है।

उपन्यास का आरंभ पश्चिमी शिक्षण के आदर्श को उद्‌घाटित करते हुए होता है – "हमारे स्कूलों और कॉलेजों में जिस तत्परता से फीस वसूल की जाती है, शायद माल–गुजारी भी उतनी सख्ती से नहीं वसूल की जाती। महीने में एक दिन नियत कर दिया जाता है। उस दिन फीस का दाखिला होना अनिवार्य है। या तो फीस दीजिए या नाम कटवाइए या जब तक फीस न दाखिल हो रोज कुछ जुर्माना दीजिए। कहीं–कहीं ऐसा भी नियम है कि उसी दिन फीस दुगुनी कर दी जाती है, और किसी दूसरी तारीख को दुगुनी फीस न दी, तो नाम कट जाता है। काशी के

क्वींस कॉलेज में यही नियम था। सातवीं तारीख को फीस न दो तो इक्कीसवीं तारीख को दुगुनी फीस देनी पड़ती थी या नाम कट जाता था। ऐसे कठोर नियमों का उद्देश्य इसके सिवा और क्या हो सकता था कि गरीबों के लड़के स्कूल छोड़कर भाग जाये, वहीं हृदयहीन दफ्तरी शासन, जो अन्य विभागों में है, हमारे शिक्षालयों में भी है। वह किसी के साथ रिआयत नहीं करता। चाहे जहां से लाओ, कर्ज लों, गहने गिरो रखो , लोटाथाली बेचो, चोरी करो, मगर फीस जरूर दो, नहीं दूनी फीस देनी पड़ेगी या नाम कट जाएगा। जमीन और जायदाद के कर वसूल करने में भी कुछ रिआयत की जाती है। हमारे शिक्षालयों में नर्मी को घुसने ही नहीं दिया जाता । वहां स्थायी रूप से मार्शल लॉ का व्यवहार होता है। कचहरी में पैसे का राज है, हमारे स्कूलों में भी पैसे का राज है, उससे कहीं कठोर, कहीं निर्दय देर में आइए, तो जुर्माना, न आइए, तो जुर्माना, सबक न याद हो, तो जुर्माना, किताबें न खरीद सकिए, तो जुर्माना, कोई अपराध हो जाए तो जुर्माना, शिक्षालय क्या है, जुर्मानालय है। यही हमारी पश्चिमी शिक्षा का आदर्श है, जिसकी तारीफो के पुल बांधे जाते हैं। यदि ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देने वाले, पैसे के लिए गरीबों का गला काटने वाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा को बेच देने वाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य क्या है।"[1]

उपन्यास का नायक 'अमरकांत' अपने विद्यार्थी जीवन से ही 'राष्ट्रीय आंदोलन' की ओर आकर्षित होता है। तथा क्रांतिकारियों के लिए उनके मन में सहानुभूति और श्रद्धा भर जाती है। प्रेमचंद लिखते हैं – "दैनिक समाचार–पत्रों के

पढ़ने से अमरकांत के राजनैतिक ज्ञान का विकास होने लगा। देशवासियों के साथ शासक मंडल की कोई अनीति देखकर उसका खून खौल उठता था। जो संस्थाएं राष्ट्रीय उत्थान के लिए उद्योग कर रही थी, उनसे उसे सहानुभूति हो गयी। वह अपने नगर की कांग्रेस कमेटी का मेंबर बन गया और उसके कार्यक्रम में भाग लेने लगा।"[2] साथ ही वह अब मंच से जोशीले 'स्पीच' देने लगा।

'मुन्नी' के प्रसंग से 'कर्मभूमि' की कथा में गतिशीलता आती है। डॉ. जैदी का कथन है कि 'कर्मभूमि' की वास्तविक शुरुआत वहां से होती है जहां से मुन्नी का प्रसंग शुरु होता है। इसमें कुछ आंशिक सत्यता भी है क्योंकि 'मुन्नी' की कथा से ही उपन्यास अपने वास्तविक लय में आता है। अंग्रेजों के अत्याचार का विभत्स्य चित्र हमें 'मुन्नी' के प्रसंग में मिलती है। इससे पूर्व तो लेखक केवल अंग्रेजों की आर्थिक नीति और पात्रों के ऊपरी आवरण के चित्र खींचने में ही रमे रहे। 'मुन्नी' के प्रसंग से पाठक शोषण के नग्न यथार्थ से परिचित होते है। किंतु लेखक यह तुरंत ही साफ कर देते हैं कि 'मुन्नी' 'स्त्री' 'कर्मभूमि' तक आते–आते जब अकेली नहीं है। 'अमरकांत', शांतिकुमार, 'सलीम' समेत सभी गांववाले 'मुन्नी' के साथ है। तथा वे अंग्रेजों का मुकाबला करने को तैयार हैं। परिणाम चाहे जो भी हो गांववाले अब अत्याचार को बर्दाश्त नहीं करेंगे। प्रसंग का वर्णन प्रेमचंद ने बड़ा मार्मिक ढंग से किया है। पढ़ते ही पाठक के रोंगटे खड़े हो जाते हैं –

"...सहसा एक वृक्ष के नीचे दस–बारह स्त्री–पुरुष संशकित भाव से दुबके हुए दिखाई दिए, सब–के–सब सामने वाले अरहर के खेत की ओर ताकते और आपस में

कनफुसकियां कर रहे थे। अरहर के खेत की मेड़ पर दो गोरे सैनिक हाथ में बेंत लिए अकड़े खड़े थे। छात्र–मंडली को कुतूहल हुआ। सलीम ने एक आदमी से पूछा – क्या माजरा है, तुम लोग क्यों जमा हो?

अचानक अरहर के खेत की ओर से किसी औरत की चीत्कार सुनायी पड़ी। छात्रवर्ग अपने डण्डे संभालकर खेत की तरफ लपका। परिस्थिति उनको समझ में आ गयी थी। एक गोरे सैनिक ने आंख निकालकर छड़ी दिखाते हुए कहा – भाग जाओ, नहीं हम ठोकर मारेगा।

इतना उसके मुंह से निकलना था कि डॉ. शांतिकुमार ने लपककर उसके मुंह पर घूंसा मारा। सैनिक के मुंह पर घूंसा पड़ा, तिलमिला उठा, पर था घूंसेबाजी में मंजा हुआ। घूंसे का जवाब जो दिया, तो डाक्टर साहब गिर पड़े। उसी वक्त सलीम ने अपीन हॉकी–स्टिक उस गोरे के सिर पर जमायी। वह चौंधिया गया, जमीन पर गिर पड़ा और जैसे मूर्छित हो गया। दूसरे सैनिक को अमर और एक दूसरे छात्र ने पीटना शुरु कर दिया था, पर वह इन युवकों पर भारी था। सलीम इधर से फुर्सत पाकर उस पर लपका। एक के मुकाबले में तीन हो गए। सलीम की स्टिक ने इस सैनिक को भी जमीन पर सुला दिया। इतने में अरहर के पौधों को चीरता हुआ तीसरा गोरा आ पहुंचा। डाक्टर शांतिकुमार संभलकर उस पर लपके ही थे कि उसने रिवाल्वर दाग दिया। डाक्टर साहब जमीन पर गिर पड़े। अब मामला नाजुक था। तीनों छात्र डाक्टर को संभालने लगे। यह भय भी लगा हुआ था कि वह दूसरी गोली न चला दे। सबके प्राण उन्हीं में समाए हुए थे।

मजूर लोग अभी तक तो तमाशा देख रहे थे। मगर डाक्टर साहब को गिरते देख उनके खून में भी जोश आया। भय की भांति साहस भी संक्रामक होता है। सब के सब अपनी लकड़ियां लेकर गोरे पर दौड़े। गोरे ने रिवाल्वर दागी, पर निशाना खाली गया। इसके पहले कि वह तीसरी गोली चलाए, उस पर डंडों की वर्षा होने लगी और एक क्षण में वह भी आहत होकर गिर पड़ा.... उसी वक्त एक युवती खेत से निकली और मुंह छिपाये, लंगड़ाती, कपड़े संभालती, एक तरफ चल पड़ी। अबला लज्जावश, किसी से कुछ कहे बिना, सबकी नजरों से दूर निकल जाना चाहती थी। उसकी जिस अमूल्य वस्तु का अपरहरण किया गया था, उसे कौन दिला सकता था। दुष्टों को मार डालो, इससे तुम्हारी न्याय बुद्धि को संतोष होगा, उसकी तो जो चीज गयी, वह गयी। वह अपना दुःख क्यों रोए, क्यों फरियाद करे, सारे संसार की सहानुभूति, उसके किस काम की है।"[3] इस कांड पर कथा नायक अमरकांत काफी दुःखी होता है, साथ ही क्रोधित भी। वह सोचता है "इन टके के सैनिकों की इतनी हिम्मत क्यों हुई? यह गोरे सिपाही इंग्लैण्ड के निम्नतम श्रेणी के मनुष्य होते हैं इनका इतना साहस कैसे हुआ? इसीलिए कि भारत पराधीन है। यह लोग जानते हैं कि यहां के लोगों पर आतंक छाया हुआ है। वह जो अनर्थ चाहें, करें। कोई चूं नहीं कर सकता। यह आतंक दूर करना होगा। इस पराधीनता की जंजीर को तोड़ना होगा।"[4] मुन्नी एक अज्ञात स्थान चली जाती है किंतु वक्त आने पर वह दो गोरों को मार कर अपना बदला लेती है। भारत वर्ष अगर वीरों का देश रहा है तो वीरंगनाओं का भी देश रहा है। वक्त आने पर यहां की स्त्रियां भी अपनी कमर कस लेती हैं।

बदले का दृश्य मुन्नी के अंदर छिपी क्रोध, आक्रोश को दर्शाता है। "...भिखारिन तांगे के पास आकर खड़ी हो गयी। वे तीनों (गोरे) रुपये पाने की खुशी में भूले हुए थे कि सहसा उस भिखारिन ने छुरी निकालकर एक गोरे पर वार किया। छुरी उसके मुंह पर आ रही थी। उसने घबरा कर मुंह पीछे हटाया, तो छाती में चुभ गयी। वह तो तांगे पर ही हाय–हाय करने लगा। शेष दोनों गोरे तांगे से उतर पड़े और दुकान पर आकर प्राण रक्षा करना चाहते थे कि भिखारिन ने दूसरे गोरे पर वार कर दिया। छुरी उसकी पसली में पहुंच गयी। दुकान पर चढ़ने न पहुंच पाया था, धड़ाम से गिर पड़ा। भिखारिन लपक कर दुकान पर चढ़ गयी और मेज पर झपटी कि अमरकांत 'हां–हां' करके उसकी छुरी छीन लेने को बढ़ा भिखारिन ने उसे देखकर छुरी फेंक दी और दुकान के नीचे कूद कर खड़ी हो गयी।... दोनों गोरे जमीन पर पड़े तड़प रहे थे, ऊपर मेम साहब सहमी हुई खड़ी थी और लाला समरकांत अमरकांत का हाथ पकड़कर अंदर घसीट ले जाने की चेष्टा कर रहे थे।.. वह भिखारिन भाग सकती थी, कोई उसका पीछा करने का साहस न करता, पर भागी नहीं। वह आत्मघात कर सकती थी। उसकी छुरी अब भी जमीन पर पड़ी हुई थी, पर उसने आत्मघात भी न किया। वह तो इस तरह खड़ी थी, मानो उसे यह सारा दृश्य देखकर विस्मय हो रहा हो।"[5] पुलिस उसे पकड़ लेती है और फिर उस पर मुकद्मा चलाया जाता है। अदालत में 'मुन्नी' 'भिखारिन' डट कर कहती है कि 'मैं हत्यारिन नहीं हूं' मैंने अपने आबरु बिगाड़ने वालों से बदला लिया है। 'मुन्नी' के इस वीरता पर पूरा शहर को गर्व है। शांतिकुमार, अमरकांत, रेणुकादेवी समेत अन्य

सभी शहर के विशिष्ट लोग मुन्नी के मुकदद्में में रूचि लेते हैं। यहां तक कि जज की पत्नी भी मुन्नी के साथ है। पूरे शहर में मुन्नी के मुकदद्में के लिए चंदा इकट्ठा किया जाता है। लोग बढ़–चढ़कर हिस्सा लेते हैं। गरीब हो या अमीर सभी चंदा देना अपना फर्ज समझते हैं। अपनी गरीबी की हालत में भी बुढ़िया पठानिन और उसकी बेटी 'सकीना' भी दो रूपये देने को तैयार हो जाती हैं। मुन्नी को पूरा शहर 'देवी' की तरह पूजने लगता है। इसमें उसका पति भी शामिल हैं सारी जनता चाहती है कि 'मुन्नी' को बाइज्जत छोड़ दिया जाए। इसके लिए सारे गवाह मुन्नी के पक्ष में बोलते हैं, और उसे पागल करार दिया जाता है ताकि ये साबित किया जा सके कि वह अपने होश–हवास में नहीं हैं परिस्थिति के नजाकत को 'जज' भी समझ लेते हैं। और फिर फैसला देते हैं –

"... यह सिद्ध है कि मुन्नी ने हत्या की...।"

"लेकिन यह भी सिद्ध है कि उसने हत्या मानसिक अस्थिरता की दशा में की, इसलिए मैं उसे मुक्त करता हूं।"[6]

'जज' द्वारा दिया गया फैसला, प्रेमचंद की क्रांतिकारी दृष्टि का सबूत है। जिस देश में अंग्रेजों के खिलाफ कुछ बोलना तक गुनाह है उसी देश में प्रेमचंद अंग्रेजों के कातिल को बाइज्जत बरी करा रहे हैं। यही नहीं, उसके छुटने पर शहर में जश्न का माहौल है। "लोग मतवाला हो–होकर एक–दूसरे के गले मिलने लगे। घनिष्ठ मित्रों में धौल–धप्पा होने लगा। कुछ लोगों ने अपनी–अपनी टोपियां उछालीं। जो मसखरे थे, उन्हें जूते उछालने की सूझी। सहसा मुन्नी, डाक्टर

शांतिकुमार के साथ, गंभीर हास्य से अलंकृत, बाहर निकली, मानों कोई रानी अपने अपने मंत्री के साथ आ रही है।... प्रोग्राम पहले ही निश्चित था। पुष्प–वर्षा के पश्चात् मुन्नी के गले में जलमाला डालना था। यह गौरव 'जज' साहब की धर्मपत्नी को प्राप्त हुआ था, बैण्ड बजने लगा। सेवा समिति के दो सौ युवक के सारिए बाने पहने जुलूस के साथ चलने के लिए जमा हो गए। महिलाओं की संख्या एक हजार से कम न थी।"[7] शायद ही ब्रिटिश राज में ऐसा माहौल कोई देखा होगा। देखना तो दूर किसी ने तो सोचा भी न होगा। किंतु प्रेमचंद ने ऐसा कर दिखाया। यही प्रेमचंद की भावना, सोच और राष्ट्रीयता का परिचायक है।

'कर्मभूमि' में प्रेमचंद ने सामाजिक व्यवस्था पर भी दृष्टिपात किया है। सबसे पहले प्रेमचंद ने एक ही शहर में दो प्रकार के जीवन यापन को रेखांकित किया है। शहर का एक भाग जहां लाल समरकांत, अमरकांत जैसे लोग रहते हैं। और दूसरा भाग जहां सकीना जैसे लोग रहते हैं। शहर का दूसरा हिस्सा गरीबों की दुनिया है। वहां के सड़क, मकान आदि सभी गरीब होने का सबूत दे रहा है। कीचड़ और दुर्गंध चारों ओर फैली हुई थी। "...गली में बड़ी दुर्गंध थी। गंदे पानी के नाले दोनों तरफ बह रहे थे। घर प्रायः सभी कच्चे थे। गरीबों का मुहल्ला था। शहरों के बाजारों और गलियों में कितना अंतर है। एक फूल है – सुंदर, स्वच्छ, दुर्गंधमय, दूसरी जड़ है, कीचड़ और दुर्गंध से भरी, टेढ़ी–मेढ़ी, लेकिन क्या फूल को मालूम है कि उसकी हस्ती जड़ से है।"[8]

प्रेमचंद ने अपने लेखन में स्वाधीनता आंदोलन के दोहरे स्वरूप को उपस्थित किया, उन्होंने एक साथ समाज से सामंतवाद और साम्राज्यवाद से मुक्ति – को रेखांकित किया। प्रेमचंद भली–भांति जानते थे कि जब तक इस समाज से सामंतवाद और उसमें निहित जातिवाद का अंत नहीं हो जाता है तब तक आजादी का कोई अर्थ नहीं है। प्रेमचंद का लक्ष्य केवल जॉन के जगह गोविंद को बैठाना नहीं था, बल्कि प्रेमचंद भारतीय समाज, शासन व्यवस्था में क्रांति लाना चाहते थे। प्रेमचंद की यह दृष्टि उनके उपन्यास 'कर्मभूमि' में साफ दिखती है। 'कर्मभूमि' में जहां एक तरफ अंग्रेजी शासन के खिलाफ विद्रोह को दर्शाया गया है वहीं दूसरी तरफ दलितों के स्वाभिमान और सम्मान के लिए संघर्ष को भी दर्शाया गया है। 'जातिवाद' की समस्या को उजागर करते हुए कर्मभूमि का राष्ट्रवादी नायक कहता है "मैं जात–पात नहीं मानता, माताजी, जो सच्चा है, वह चमार भी हो तो आदर के योग्य है, जो दगाबाज, झूठा, लंपट हो, वह ब्राह्मण भी हो, तो आदर के योग्य नहीं है।"[9]

'कर्मभूमि' के दलित पात्र मंदिर में प्रवेश पाने के अधिकार को लेकर संघर्षरत होते हैं। 'ब्रह्मचारी' जी मार्ग में बाधा सृष्टि करते हैं। उनकी दृष्टि में मंदिरों में प्रवेश केवल सवर्णों के लिए ही उचित है। लाला समरकांत जैसे धनी वर्ग उनके साथ हैं। "ब्रह्मचारी ने ब्रह्म तेज से लाल–लाल आंखें निकालकर कहा – बात क्या है, यहां लोग भगवान की कथा सुनने आते हैं कि अपना धर्म भ्रष्ट करने आते हैं। भंगी, चमार, जिसे देखो घुसा चला आता है, ठाकुर जी का मंदिर न हुआ, सराय

हुई। समरकांत ने कड़ककर कहा – निकाल दो सभी को मारकर।"[10] फिर उन दलित भक्तों को जूते से मारा जाता है। हालांकि वे दलित मंदिर में प्रवेश भी नहीं किए थे, वे वहां बैठे थे जहां सभी भक्तगण अपना जूते उतार कर रखते हैं किंतु ब्रह्मचारी जी को यह भी सहन न हुआ। बड़े बेदर्दी से वह उन दलितों पर जूते बरसाने लगते हैं। "ब्रह्मचारी ने उसे एक जूता जमाते हुए कहा – तू यहां आया क्यों? यहां से वहां तक एक दरी बिछी हुई है। सब का सब भर भण्ड हुआ कि नहीं? अब जाड़े–पाले में लोगों को नहाना धोना पड़ेगा कि नहीं? चला है, वहां से बड़ा भगत की पूछ बनकर।"[11]

दलितों को लेकर प्रेमचंद की दृष्टि साफ है। वे कहते हैं "हम कहते हैं कि अगर हममे इतनी शक्ति होती, तो हम अपना सारा जीवन हिंदू जाति को पुरोहितों, पुजारियों, पिण्डों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिंदू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल हैं, जो एक विशाल जोंक की भांति उसका खून चूस रहा है; और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीयता की पहली शर्त है, समाज में साम्यभाव का दृढ़ होना। इसके बिना राष्ट्रीयता की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।[12]

डॉक्टर शांतिकुमार जैसे पढ़े–लिखे आदमी के द्वारा प्रेमचंद, दलितों के स्वाभिमान और सम्मान के संघर्ष को उजागर करते हैं। 'शांतिकुमार' दलितों की तरफ से ब्रह्मचारी और सरमकांत जेसे सवर्ण पात्रों के खिलाफ विद्रोह करता है। दलितों को संबोधित करते हुए डाक्टर साहब व्यंग्य से कहते हैं, "तुम्हें इतनी खबर

नहीं कि यहां सेठ–महाजनों के भगवान रहते हैं। तुम्हारी इतनी मजाल कि इन भगवान के मंदिर में कदम रखा तुम्हारे भगवान् कहीं किसी झोपड़े में या पेड़ के तले होंगे। यह भगवान रत्नों के आभूषण पहनते हैं। मोहन–भोग–मलाई खाते हैं। चीथड़े पहनने वालों और चबेना खाने वालों की सूरत वह नहीं देखना चाहते।"[13] शांतिकुमार ब्रह्मचारी से शास्त्रार्थ करते हैं तथा ब्रह्मचारी जैसे पाखंडों को छलवा होने का आरोप लगाते हैं। "शांतिकुमार उत्तेजित होकर बोले – अंधे व्यक्तियों की आंखों में धूल–झोंककर यह हलवे बहुत दिन खाने को न मिलेंगे महाराज, समझ गए? अब वह समय आ रहा है, जब भगवान भी पानी से स्नान करेंगे दूध से नहीं।"[14] डाक्टर साहब गांव के दलितों को धर्म और कर्म से अवगत कराता है "वही ऊंचा है,जिसका मन शुद्ध है, वही नीचा है, जिसका मन अशुद्ध है -- जिसने वर्ण का स्वांग रचकर समाज के एक अंग को मदांध और दूसरे को म्लेच्छ नहीं बनाया। किसी के लिए उन्नति का उद्धार का द्वार नहीं बंद न किया – एक के माथे पर बड़प्पन का तिलक और दूसरे के माथे पर नीचता का कलंक लगाया।"[15]..... "मंदिर किसी एक आदमी या समुदाय की चीज नहीं है। वह हिंदू मात्र की चीज है। यदि तुम्हें कोई रोकता है, तो यह उसकी जबरदस्ती है। मत टलो उस मंदिर के द्वार से, चाहे तुम्हारे ऊपर गोलियों की वर्षा ही क्यों न हो? तुम जरा–जरा सी बात से अपना सर्वस्व गंवा देते हो, जान दे देते हो, यह तो धर्म की बात है और धर्म हमें जान से प्यारा होता है। धर्म की रक्षा सदा प्राणों से हुई है और प्राणों से होगी।"[16]

दलितों को विद्रोह करते देख लाला समरकांत और ब्रह्मचारी पुलिस बुलाते हैं। चारों ओर से गोलियां बरसने लगती हैं। डाक्टर साहब सहित कई लोग घायल होते हैं और कुछ लोग गोलियों से मौत का शिकार बन जाते हैं। पर आश्चर्य की बात यह थी कि कोई भी मैदान छोड़कर भागा नहीं बल्कि सभी ने मिलकर गोलियों का सामना किया। "भीषण दृश्य था। लोग अपने प्यारों को आंखों के सामने तड़पते देखते थे, पर किसी की आंखों में आंसू की बूंद न थी। उनमें इतना साहस कहां से आ गया था?... हरेक स्त्री और पुरुष, चाहे वह कितना ही मूर्ख क्यों न हो, समझने लगा था कि हम अपने धर्म और हक के लिए लड़ रहे हैं और धर्म के लिए प्राण देना अछूत नीति में भी उतने गौरव की बात है जितनी द्विज नीति में।"[17]

लोगों को मरते देखकर अचानक समरकांत का हृदय परिवर्तन होता है और वह 'सुपरिण्टेण्डेंट' से 'फायर' बंद करने को कहता है। पुलिस वापस लौटने लगती है। 'समरकांत सुखदा के समीप आकर ऊंचे स्वर में बोलता है -- 'मंदिर खुल गया है। जिसका जी चाहे, दर्शन करने जा सकता है। किसी के लिए रोक--टोक नहीं है।

भले ही 'कर्मभूमि' में अछूत आंदोलन का सफल परिणाम रहा हो, पर समाज में ऐसे आंदोलन विफल हो रहा था। 1924 ई. में केरल के वायकोम में तथा 1931 में गुरुवयूर के मंदिरों में अछूतों के प्रवेश का आंदोलन सफल नहीं हो सका था। 1917 में कांग्रेस पार्टी ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें उन्होंने जनता से उन कुरीतियों को समाप्त करने का आह्वान किया अछूतों तथा पिछड़ों के प्रति

अन्यायपूर्ण थी। गांधीजी के आगमन से अछूत आंदोलन को गति मिली। प्रो. बिपिन चंद्र लिखते हैं – "राष्ट्रीय नेताओं में गांधी जी ही पहले नेता थे, जिन्होंने इसके खिलाफ आवाज उठायी। उन्होंने छुआछूत खत्म करने की सबसे अधिक प्राथमिकता दी और घोषणा की कि छुआछूत के खिलाफ संघर्ष आजादी के लिए संघर्ष से कम महत्वपूर्ण नहीं है।"[18]

भले ही अपने शुरुआती दौर में अछूत आंदोलन विफल रहा हो किंतु प्रेमचंद के उपन्यास 'कर्मभूमि' में अछूतों को मिली सफलता की पृष्ठभूमि में इन्हीं आंदोलनों से निकली ऊर्जा कार्यरत है। हिंदी साहित्य में दलितों की समस्याओं पर जितने सचेत प्रेमचंद थे, उतने सचेत बहुत कम लेखक रहे हैं। इस संदर्भ में प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि "हिंदी नवजागरण के निर्माताओं में प्रेमचंद, निराला और राहुल सांकृत्यायन ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने लेखन और चिंतन में हिंदी क्षेत्र को दलित समस्या से टकराने की कोशिश की है। हिंदी नवजांगरण का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष स्वाधीनता की चेतना है। उस स्वाधीनता की चेतना से जहां दलितों का सवाल जुड़ा है, वहीं हिंदी नवजागरण की प्रगतिशीलता सचमुच सक्रिय दिखाई देती है, क्योंकि वहां साम्राज्यवाद विरोध से सामंतवाद विरोध जुड़ा हुआ है। यह बात प्रेमचंद के लेखन में मिलती है। उनकी कथा रचनाओं में भी और वैचारिक लेखन में भी। प्रेमचंद ने एक जगह लिखा है कि हमारा स्वराज केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करने मात्र से नहीं बल्कि सामाजिक जुए–पाखंडी जुए से भी, जो विदेशी शासन से अधिक घातक है, मुक्त होने पर ही संभव होगा। प्रेमचंद

वर्णव्यवस्था और जातिप्रथा के अंत को भारतीय राष्ट्रीयता की पहली शर्त मानते थे। 'उन्होंने लिखा भी कि राष्ट्रीयता को पहली शर्त वर्णव्यवस्था ऊंच–नीच के भेद और धार्मिक पाखण्ड की जड़ खोदना है। राष्ट्रीयता की ऐसी चेतना और धारणा उस समय के किसी अन्य हिंदी लेखक में शायद ही मिले।"[19]

'कर्मभूमि' में ब्रिटिश शासन के खिलाफ संघर्ष का अगला प्रसंग शहरी मेहनतकश जनता का घर बनाने के लिए जमीन की मांग को लेकर है। यह प्रस्ताव डॉ. शांतिकुमार और सुखदा का है। "सुखदा का कहना था कि जब मिलों के लिए, स्कूलों और कॉलेजों के लिए जमीन का प्रबंध हो सकता है, तो इस काम के लिए क्यों न म्युनिसिपैलिटी मुफ्त जमीन दे।"[20] किंतु नगरपालिका जमीन देने को तैयार नहीं होती है। और तो और उल्टे नगरपालिका ने कुछ धनी लोगों को कौड़ियों के भाव में प्लॉट बेच दिया। सुखदा और शांतिकुमार ने 'प्लॉट' के लिए कई बार अपील की, किंतु नगरपालिका को इससे कोई फर्क न पड़ा। अंततः सुखदा विद्रोह करने का फैसला कर लेती है। "सुखदा ने विद्रोह भरे स्वर में कहा हाकिमों से जो कुछ कहना–सुनना था, वह कह–सुन चुके थे, किसी ने भी काम न दिया। छः महीने से यही कहा–सुनी हो रही है। जब अब तक उसका कोई फल न निकला, तो अब क्या निकलेगा। हमने आरजू–मिन्नत से काम निकालना चाहा था, पर मालूम हुआ, सीधी उंगली से घी नहीं निकलता। हम जितना दबेंगे, यह बड़े आदमी हमें उतना ही दबाएंगे। आज तुम्हें तय करना है कि तुम अपने हक के लिए लड़ने को तैयार हो या नहीं।"[21] सुखदा और डाक्टर साहब घर–घर घूमकर लोगों के मन में विद्रोह की

चिंगारि जलाते हैं। फलतः निम्नवर्गों में विद्रोह फूट पड़ी।" मुरली खटिक ने बड़ी–बड़ी मूंछों पर हाथ फेर कर कहा बस कैसे नहीं है? हम आदमी नहीं है कि हमारे बाल – बच्चे नहीं हैं? किसी को तो महल और बंगला चाहिए, हमें कच्चा घर भी न मिले। मेरे घर में पांच जने हैं, उनमें से चार आदमी महिने भर से बीमार हैं। उस कालकोठरी में बीमार न हों, तो क्या हों? सामने से गंदा नाला बहता है! सांस लेते नाक फटती है।"[22] सुखदा व्यापक स्तर पर हड़ताल का आह्वान करती है। जिसका अच्छा खासा असर शहर पर पड़ता है। "दूसरे दिन शहर में अच्छी खासी हड़ताल थी। मेहतर तो एक भी काम करता न नजर आता था। कहारों और इक्के–गाड़ीवालों ने भी काम बंद कर दिया था। साग–भाजी की दुकानें भी आधी से ज्यादा बंद थीं। कितने ही घरों में दूध के लिए हाय–हाय मची हुई थी। पुलिस दुकानें खुलवा रही थी और मेहतरों को काम पर लाने की चेष्टा कर रही थी।"[23] पुलिस अपना दमन चक्र तेज कर रही थी, सुखदा के नाम गिरफ्तारी का वारंट निकलता है, इस पर प्रतिक्रिया करती हुई सुखदा कहती हैं "जिस समाज का आधार ही अन्याय पर हो, उसको सरकार के पास दमन के सिवाय और क्या दवा हो सकती है? लेकिन इससे कोई यह न समझे कि यह आंदोलन दब जाएगा, उसी तरह, जैसे कोई गेंद टक्कर खाकर और जोर से उछलती है, जितने ही जोर से टक्कर होगी, उतने ही जोर से प्रतिक्रिया भी होगी। सरकारी पुलिस भी सुखदा के इस त्याग की प्रशंसा करते हैं।"[24] प्रेमचंद ने यहां यह दिखाया है कि अब सरकारी कर्मचारियों में भी राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हो रही है। डिप्टी पुलिस का कथन

है, "देवीजी अपने लिए कुछ नहीं कर रही हैं। उन्हें किसी तरह की तकलीफ न होगी। नौकरी से मजबूर हूं, वरना यह देवियां तो इस लायक हैं कि इनके कदमों में सिर रखें। खुदा ने सारी दुनिया की नेमतें दे रखी हैं, मगर उन पर लात मार दी और हक के लिए सब कुछ झेलने को तैयार हैं। इसके लिए गुर्दा चाहिए साहब, मामूली, बात नहीं है।"[25] सुखदा की गिरफ्तारी पर सारी जनता अपनी एकजुटता दिखाती है और चारों ओर सुखदा की जय–जयकार होने लगती है।

"सुखदा मोटर में बैठी। जय–जयकार की ध्वनि हुई। फूलों की वर्षा की गई। मोटर चल दी। हजारों आदमी मोटर के पीछे दौड़ रहे थे और सुखदा हाथ उठाकर उन्हें प्रणाम करती जाती थी। यह श्रद्धा, यह प्रेम, यह सम्मान क्या धन से मिलता है? या विद्या से? इसका केवल एक ही साधन है और वह सेवा है।"[26]

सुखदा के बाद उपन्यास के बाकी बचे पात्र एक–एक कर मंच पर आते हैं, और मोर्चा का नेतृत्व संभालते हैं। पर सभी एक–एक करके गिरफ्तार भी हो जाते हैं। पहले बुढ़िया पठानिन गिरफ्तार होती है। फिर लाला संमरकांत स्वयं नेतृत्व संभालते हैं। लालाजी पहली बार प्रत्यक्ष रूप से मोर्चे पर कूदते हैं। "सहसा लोगों ने देखा, एक आदमी ईंटों के ढेर पर खड़ा कुछ कह रहा है। चारों ओर से दौड़–दौड़कर लोग वहां जमा हो गए – जन समूह का एक विराट सागर उमड़ा हुआ था। यह आदमी कौन है? लाला समरकांत। जिनकी बहू जेल में है, जिनका लड़का जेल में है।"[27] लाला जी को पुलिस गिरफ्तार कर लेते हैं। किंतु आंदोलन रूकती नहीं है। रेणुका देवी 'फ्रंटलाइन' में आ जाती है और आंदोलन को जारी

रखती है – " 'यह कौन खड़ा बोल रहा है?' कोई औरत जान पड़ती है।' 'कोई भले घर की औरत है।' अरे यह तो वही है, लालाजी की समधिन, रेणुका देवी।"[28]

रेणुका देवी भी जल्द ही गिरफ्तार हो जाती हैं। और आंदोलन एक निर्णायक मोड़ पर पहुंच जाते हैं जब 'नैना' आंदोलन का नेतृत्व संभालती है। "नैना ने झण्डा उठा लिया और म्युनिसिपैलिटी के दफ्तर की ओर चली। उसके पीछे बीस–पच्चीस हजार आदमियों का एक सागर–सा उमड़ता हुआ चला। और यह दल मेलों की भीड़ की तरह अक्षृलंखता नहीं, कौज की कतारों की तरह श्रृंखलाबद्ध था। आठ–आठ आदमियों की असंख्या पंक्तियां गंभीर भाव से एक विचार, एक उद्देश्य, एक धारणा की आंतरिक शक्ति का अनुभव करती हुई चली जा रही थीं और उनका तांता न टूटता था, मानो भूगर्भ के निकलती चली आती हों। सड़क के देनों छज्जों और छतों पर दर्शकों की भीड़ लगी हुई थी। सभी चकित थे। उफ्फोह।"[29]

अचानक लोगों को खबर मिलती है कि नैना पर उसके पति ने गोलि चलायी है और उसकी मौत हो गयी है। "अभी कुछ मालूम नहीं शायद मिस्टर मनीराम गुस्से से भरे हुए जुलूस के सामने आए और अपनी बीबी को वहां से हट जाने को कहा। लेडी ने इंकार किया। इस पर कुछ कहा सुनी हुई। मिस्टर मनी राम के हाथ में पिस्तौल थी। फौरन शूट कर दिया।"[30] इस पर भीड़ और उग्र हो उठा और लाश को लेकर ही जनता म्युनिसिपैलिटी की ओर लपका। नैना के मौत ने एकाएक बोर्ड के मेंबरों का हृदय परिवर्तन कर दिया और बोर्ड तुरंत ही जनता के मांगों को स्वीकार कर लेता है – "भाईयों! आप म्युनिसिपैलिटी के मैंबरों के पास जा रहे हैं,

मैम्बर खुद आपका इस्तिकबाल करने आए हैं। बोर्ड ने आज इत्तिफाक राय से पूरा प्लॉट आप लोगों को देना मंजूर कर लिया है। मैं इस पर बोर्ड को मुबारकबाद देता हूं और आपको भी। आज बोर्ड ने तसलीम कर लिया कि गरीब की सेहत, आराम और जरूरत को वह अमीरों के शौक, तकल्लुफ और हविस से ज्यादा लिहाज, के काबिल समझता है। उसने तसलीम कर लिया कि गरीबों को उस पर उससे कहीं ज्यादा हक है, जितना अमीरों का। हमने तसलीम कर लिया है कि बोर्ड रूपये की निस्बत रिआया की जान की ज्यादा कद्र करती है। उसने तसलीम कर लिया कि शहर की जीनत बड़ी–बड़ी कोठियों और बंगलों से नहीं, छोटे–छोटे आरामदेह मकानों से है, जिनमें मजदूर और थोड़ी आमदनी के लोग रह सकें।"[31] इस प्रकार नैना के मौत के साथ ही आंदोलन अपने लक्ष्य को सफलतापूर्वक प्राप्त कर खत्म होता है।

'कर्मभूमि' में सन् 1929–33 के विश्वव्यापी आर्थिकमंदी का भारतीय किसानों पर पड़ने वाले प्रभाव को भी देखा जा सकता है। ब्रिटिश–विरुद्ध संघर्ष का अंतिम प्रसंग इसी से जुड़ता है। "लेकिन इस साल अनायास ही जिंसों का भाव गिर गया। इतना गिर गया, जितना चालिस साल पहले था। जब भाव तेज था, किसान अपनी उपज बेच–बाच कर लगान दे देता था, लेकिन जब दो और तीन की जिंस एक में बिके तो किसान क्या करें? कहां से लगान दे, कहां से दस्तरियां दे, कहां से चुकाए? विकट समस्या आ खड़ी हुई और यह दशा कुछ इसी इलाके की न थी। सारे प्रांत, सारे देश यहां तक कि सारे संसार में यही मंदी थी।"[32] किंतु इस मंदी के

दौर में भी जमींदारी सख्ती से वसूल की जाती थी। "इलाके के जमींदार एक महंत जी थे। कारकुन और मुख्तार उन्हीं के चेले चापड़ थे। इसलिए लगान बराबर वसूल होता जाता था। ठाकुरद्वारे में कोई न कोई उत्सव होता ही रहता था। कभी ठाकुरजी का जन्म है तो कभी ब्याह है, कभी यज्ञोपवीत है, कभी झूला है, कभी जल–विहार है। आसामियों को इन अवसरों पर बेगार देनी पड़ती थी, भेंट – न्यौछावर, पूजा–चढ़ावा आदि नामों से स्तूरी चुकानी पड़ती थी, लेकिन धर्म के मुआमले में कौन मुंह खोलता? धर्म संकट सबसे बड़ा संकट है। फिर इलाके के काश्तकार सभी नीच जातियों के लोग थे।"[33]

गांव के लोग इकट्ठा होते हैं कि लगान के बोझ से कैसे बचा जाए? गांव का एक व्यक्ति भोला चौधरी कहता है – "मेरी गुजारिश तो यही है कि हम सब मिलकर महंत महाराज के पास चलें और उनसे अरज–मारुज करें। अगर वह न सुनें, तो हाकिम जिला के पास चलना चाहिए। मैं औरों का नहीं कहता। मैं गंगा माता की कसम खाके कहता हूं कि मेरे घर में छटाक–भर भी अन्न नहीं है और जब मेरा यह हाल है, तो और सबों का भी यही हाल होगा। उधर महंत जी के यहां वही बहार है। अभी परसों एक हजार साधुओं को आम की पंगत दी गयी। बनारस और लखनऊ से कई डब्बे आमों के आए हैं। आज सुनते हैं फिर मलाई की पंगत है। हम भूखों मरते हैं, वहां मलाई उड़ती है। उस पर हमारा रक्त चूसा जा रहा है। बस, यहीं मुझे पंचों से कहना है।"[34] तो आओ, आज हम सब चलकर महंतजी का मकान और ठाकुरद्वारा घेर लें और जब तक वह लगान बिल्कुल न छोड़ें, कोई

उत्सव न होने दें।"[35] किंतु उपन्यास का नायक अमरकांत ऐसा होने नहीं देता है। अमरकांत उपन्यास ही नहीं प्रेमचंद के गांधीवादी आदर्शों का भी नायक है जिसे उग्र क्रांति में विश्वास नहीं है।" अमर ने छाती ठोंककर कहा – जिस रास्ते पर तुम जा रहे हो, वह उद्धार का रास्ता नहीं है, सर्वनाश का रास्ता है। तुम्हारा बैल अगर बीमार पड़ जाए, तो तुम उसे जोतोगे?"[36] अंततः अमरकांत ही किसान आंदोलन को नेतृत्व प्रदान करता है। और लगान घटाने के मुआमले में महंत जी से मिलने का फैसला करता है। महंत जी के वहां पहुंच कर अमरकांत को भेंट के नाम पर हो रहे अपव्यय का पता चलता है। "ठाकुरजी के नाम पर कितना अपव्यय हो रहा है, यही सोचता हुआ अमर यहां से फिर बीच वाले प्रांगण में आया और सदर द्वार से बाहर निकला।"[37] एक लंबे इंतजार के बाद अमरकांत का भेंट महंतजी से होता है। और महंतजी उनकी अर्जी को आगे बढ़ाने का आस्वाशन देते हैं। इस समाज की अजीब विडंबना है एक तरफ जहां किसानों की हालत दैयनिय है वहीं उन्हीं के पैसों से जमींदार पल्लवीत हो रहे हैं। और ऐशोआराम की जिंदगी बीता रहे हैं। मजे की बात तो यह है कि इतने क्रूर होने पर भी वह भक्त कहलाए जा रहे हैं।

महंतजी के आश्वासन के बाद भी गांव में कोई खास पहल नहीं होती है। इससे अमरकांत लगान देना बंद करने का फैसला करता है। "जब तक लगान देना बंद न करेंगे, सरकार यों ही टालती रहेगी।"[38] उपन्यास का एक पात्र राजनवी अमरकांत को गिरफ्तार कर लेने को कहता है; क्योंकि अमरकांत उनके लिए अब नासूर बन चुका था। वह कहता है – "हुकूमत में कुछ–न–कुछ खौफ और रोब का

होना भी जरूरी है, नहीं उनकी सुनेगा कौन? किसानों को आज यकीन हो जाय कि आधा लगान देकर उनकी जान बच सकती है तो कल वह चौथाई पर लड़ेंगे और परसों पूरा मुआफी का मुतालवा करेंगे। मैं तो समझता हूं, आप जाकर लाला अमरकांत को गिरफ्तार कर लें। एक बार कुछ हलचल मचेगी मुमकिन है, दो चार, गांवों में फसाद भी हो, मगर खुले हुए फसाद को रोकना उतना मुश्किल नहीं है, जितना इस हवा को।"[39] सलीम मजबूर होकर अमरकांत को गिरफ्तार करता है। पूरा गांव इकट्ठा हो जाता है। और सभी अमर को बचाने के लिए दौड़ पड़ते हैं। "मुन्नी की आवाज मानों खतरे की बिगुल थी। दम–के–दम में सारे गांव में यह आवाज गूंज उठी– भैया पकड़ गए। स्त्रियां घरों में से निकल पड़ीं – भैया पकड़ गये। क्षण मात्र में सारा गांव जमा हो गया और सड़क की तरफ दौड़ा। मोटर घुमाकर सड़क से जा रही थी। पगडण्डियों का एक सीधा रास्ता था। लोगों ने अनुमान किया, अभी इस रास्ते मोटर पकड़ी जा सकती है।"[40] अमरकांत की गिरफ्तारी के साथ ही किसान आंदोलन वहीं दब जाता है। इसका कोई सफल परिणाम नहीं निकल पाता है। हां इसका अन्य पात्रों पर प्रभाव जरूर पड़ता है जैसा कि सलीम का हृदय परिवर्तन होता है और वह भी स्वाधीनता आंदोलन में कूद पड़ता है। सलीम को धीरे–धीरे सरकार की पॉलिसी समझ में आ रही थी। सलीम ने प्रश्न किया गवर्नमेंट रिआया के लिए है, रिआया गवर्नमेंट के लिए नहीं। कास्तकारों पर जुल्म करके, उन्हें भूखों मारकर अगर गवर्नमेंट जिंदा रहना चाहती है, तो कम से कम मैं अलग हो जाउंगा। अगर मालियत में कमी आ रही है तो

सरकार को अपना खर्च घटना चाहिए न कि रिआया पर सख्तियां की जाएं।"[41] बेशक प्रेमचंद ने अपने उपन्यास में किसान आंदोलन को विफल दिखाया हो पर भविष्य के लिए लेखक आशावादी है। "आखिर एक दो सदी के बाद दुनिया में एक सल्तनत हो जाएगी। सब का एक कानून, एक निजाम होगा, कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करेंगे, मजहम शख्सी चीज होगी। न कोई राजा होगा, न कोई परजा।"[42]

संदर्भ

---

1 कर्मभूमि, पृ.21

2 वही, पृ.21

3 वही, पृ.24

4 वही, पृ.30

5 वही, पृ.45

6 वही, पृ.64

7 वही' पृ.64–65

8 वही' पृ.32

9 वही' पृ.111

10 वही' पृ.152

11 पृ.152

12 विविध प्रसंग – भाग–2, पृ.471 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं?'

13 कर्मभूमि, पृ.154

14 वही, पृ.155

15 वही, पृ.155–156

16 वही, पृ.157

[17] वही, पृ.162

[18] पृ.175, गुरुद्वार सुधार व मंदिर प्रवेश आंदोलन – बिपिन चंद्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष'।

[19] प्रो. मैनेजर पाण्डेय – युद्धरत आम आदमी, का दलित अंक, पृ.189, सं. रमणिका गुप्ता

[20] कर्मभूमि पृ.179

[21] वही, पृ.197

[22] वही, 198

[23] वही, पृ.203

[24] वही, पृ.285

[25] वही, 207

[26] वही, 204

[27] वही, पृ.281

[28] वही, पृ.283

[29] वही, पृ.288

[30] वही, पृ.290

[31] वही, पृ.298

[32] वही, पृ.218

[33] वही, पृ.217

[34] वही, पृ.218

[35] वही, पृ.220

[36] वही, पृ.221

[37] वही, पृ.225

[38] वही, पृ.234

[39] वही, पृ.236

[40] वही, पृ.243

[41] वही, पृ.272

[42] वही, पृ.237

चतुर्थ अध्याय

'पथेरदाबी और कर्मभूमि'

प्रेमचंद और शरतचंद्र दोनों ही स्वाधीनता आंदोलन से जुड़े थे, स्वाधीनता आंदोलन से दोनों के जुड़े होने के रूप भिन्न हो सकते हैं, स्तर अलग हो सकता है किंतु दोनों के सक्रिय योगदान में कोई संदेह नहीं है। प्रेमचंद एवं शरतचंद्र दोनों लेखकों ने व्यक्तिगत और रचनात्मक दोनों स्तरों पर स्वाधीनता आंदोलन में योगदान दिया है। एक तरफ जहां, शरतचंद्र राजनीतिक आंदोलनों से वैयक्तिक स्तरपर अधिक जुड़े थे वहीं प्रेमचंद रचनात्मक स्तरपर अधिक जुड़े रहे। दोनों की स्वाधीनता प्राप्ति की दृष्टि में अंतर है, किंतु लक्ष्य एक है।

शरतचंद्र की रचनाओं में पूरे बंगाल की मूल समस्याओं से घिरे, व्यक्ति हृदय की मुक्ति की छटपटाहट का चित्रण है। वहीं प्रेमचंद के उपन्यास में पूरे उत्तर भारत की समस्याओं से घिरे व्यक्ति हृदय की मुक्ति की आकांक्षाओं का चित्रण है। प्रेमचंद एवं शरतचंद्र दोनों लेखक दूर द्रष्टा थे, दोनों यह जानते थे कि, राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ–साथ सामाजिक स्वतंत्रता भी भारतीय समाज के लिए अति आवश्यक है। अतः दोनों की रचनाओं में एक ओर जहां राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत पात्रों का चित्रण है, वहीं सामाजिक बंधनों की बंदिश को तोड़ने की, मुक्ति की ओर उन्मुख मनुष्य हृदय का भी सूक्ष्म चित्रण है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों, कहानियों में दोनों समस्याओं (क्रमशः राजनीतिक स्वतंत्रता और सामाजिक मुक्ति) का बराबर चित्रण किया है। वहीं शरत् बाबू के उपन्यासों में सामाजिक मुक्ति ही अधिक हावी रहा है। इस दृष्टि से प्रेमचंद के

समस्या–उद्‌घाटन का क्षेत्र वृहद और विस्तृत है, और शरतचंद्र का लघु और सीमित। किंतु समस्याओं के चित्रण में दोनों को पर्याप्त सफलता मिली है।

स्वाधीनता आंदोलन में दोनों लेखकों की दृष्टियों के पीछे दो समाज, पृष्ठभूमि स्वरूप कार्यरत है। बंगाल और उत्तर भारत की सांस्कृतिक चेतना में शताब्दी का अंतर है। बंगाल में नवजागरण की चेतना पहली बार उदित हुई। यूरोप में भले ही नवजागरण की चेतना के पीछे औद्योगिकरण रहा हो, किंतु भारत में नवजागरण की प्रथम चेतना सांस्कृतिक रूप में ही रहीं। इसका प्रभाव सीधे समाज पर पड़ा। विशेषकर साहित्य एवं संस्कृति में। अतः चेतनात्मक स्तर पर बंगाल उत्तर भारत से आगे रहा। एक तरफ जहां रवीन्द्र नाथ, बंकिमचंद्र जैसे श्रेष्ठ साहित्यकार हुए तो दूसरी तरफ राजा राम मोहन राय, विद्यासागर और विवेकानंद जैसे श्रेष्ठ समाज सुधारक हुए। निश्चित रूप से शरत्‌चंद्र को इन सारे महापुरुषों से एक ठोस आधार भूमि प्राप्त हुई थी। दूसरी तरफ प्रेमचंद ने अपनी भूमिका स्वयं तैयार की।

प्रेमचंद एवं शरत्‌चंद्र दोनों धरती की ही बातें करते हैं; प्रेमचंद जितने स्वाभाविक ढंग से प्रश्नों को उद्‌घाटित करते हैं, उतने स्वाभाविक ढंग से उसका उत्तर नहीं दे पाते हैं। उनकी कथाओं के अंत में कोई न कोई चमत्कार अवश्य होता है और चमत्कार द्वारा ही उद्‌घाटित समस्या का निवारण भी होता है। 'गोदान' इत्यादि जैसे कुछ अतिवादों को छोड़कर प्रेमचंद की बाकी सभी रचनाओं की स्थिति यही है।

दूसरी तरफ शरतचंद्र जटिल समस्याओं को रेखांकित करते हैं। हृदय के अंर्तद्वंद्वों का चित्रण करना एक जटिल कार्य है और नारी के हृदय का अंर्तद्वन्द्व हो तो वह कार्य और जटिल हो जाता है। शरतचंद्र को नारी अंर्तद्वन्द्वों के चित्रण में महारत हासिल है। इस प्रकार कलात्मक दृष्टि से शरत्चंद्र प्रेमचंद्र से कहीं आगे है। वैसे शरतचंद्र के पात्र सामाजिक बंधनों से टकराते अवश्य हैं, किंतु उसे तोड़ने की क्षमता उनमें नहीं है। 'देहाती समाज' में 'रमा' का चरित्र काफी प्रखर है। वह ऐसे कार्यों को अंजाम देती है जो एक पुरुष के लिए भी संभव न हो। किंतु शरत् बाबू कथा के अंत में उसे काशी भेज देते हैं, क्योंकि, काशी ही उस समय विधवाओं का शरणदाता था। शरत्चंद्र के पात्रों में सामाजिक बंधनों को तोड़ने की छटपटाहट तो अवश्य है, किंतु उसे तोड़कर नवसमाज निर्माण का साहस उनमें नहीं है। 'देहाती समाज' में अगर 'रमा' और 'रमेश' का विवाह हो जाता तो कदाचित यह उपन्यास अधिक क्रांतिकारी सिद्ध होता।

यही स्थिति 'पथेरदाबी' की भी है जहां अपूर्व और भारती का मिलन नहीं हो पाता है। भारती क्रिश्चियन है और अपूर्व एक शुद्धाचारी ब्राह्मण। दोनों को एक दूसरे से मिलने की चाह है किंतु उन्हें समाज ने रोक रखा है। यद्यपि भारती एक विप्लवी है और उपन्यास में कहा गया है कि विप्लवियों के लिए निजी जीवन कोई मायने नहीं रखता है। किंतु फिर भी डाक्टर द्वारा 'अपूर्व' को दिया गया प्राणों का अभयदान उनके प्रेम की स्वीकारोक्ति ही है।

प्रेमचंद और शरत्चंद्र ने अपने उपन्यासों में मानव–अनुभवों के जो आयाम दिये हैं, उनसे हम न केवल उत्तरप्रदेश या बंगाल बल्कि पूरे भारतवर्ष से परिचित होते हैं। दोनों उपन्यासकारों के उपन्यासों में वर्णित वातावरण दोनों के जीवन के प्रति गहरी दृष्टि का परिचायक है। दोनों उपन्यासकारों की जीवन के प्रति दृष्टि में पार्थक्य है, और यही पार्थक्य उनके रचनाओं में भी दृष्टिगोचर होती है। प्रेमचंद मानव जीवन की बाह्य परिस्थितियों का वर्णन एवं विश्लेषण करते हैं। जबकि शरत्चंद्र मानव जीवन के अंतर्द्वन्द्वों का चित्रण करते हैं। प्रेमचंद के पात्र जहां अंतर्द्वन्द्वों के जटिल स्थिति उत्पन्न होती है वहां आदर्श बोल उठते हैं। वहीं शरत्चंद्र के पात्रों में आत्मशक्ति की प्रधानता है, यही आत्मशक्ति आगे चलकर पात्रों में अंतर्द्वन्द्वों से जूझने की प्रेरणा प्रदान करता है। अतः शरतचंद्र बाह्य से अधिक पात्रों के अंत पक्ष के चित्रण करते हैं। वे कहते हैं – "संसार में सिर्फ बाहरी घटनाओं को अगल–बगल लंबी सजाकर उससे भी हृदयों का पानी नहीं नापा जा सकता।"[1] मनुष्य जीवन के दोनों पक्ष सुख और दुःख को दोनों चित्रकारों ने सुंदर ढंग से चित्रित किया है।

शरतचंद्र के उपन्यास मुख्यतः संस्कारों और विचारों के द्वन्द्व को प्रस्तुत करते हैं। एक तरफ व्यक्ति के निजी संस्कार तथा दूसरी तरफ व्यक्ति की निजी अनुभूति जो संस्कारों से मेल नहीं खाती है, नतीजतन दोनों में एक अंतर्द्वन्द्व हमेशा चलता रहता है। उदाहरण स्वरूप देहाती समाज की 'रमा' जिसके संस्कार ने उसे रमेश से दूर रखा है। उसे जमींदार घराने की कुल, जाति, मर्यादा ने रोक रखा है। दूसरी

तरफ उसकी निजी अनुभूति है जो क्षण–क्षण हृदय में प्रेमाभिव्यक्ति की चोट करती रहती है। ऐसी परिस्थितियों से उपजे द्वन्द्व का चित्रण 'रमा' के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। शरत्चंद्र और प्रेमचंद ने जीवन में प्रेम को अत्यधिक महत्व दिया है। शरतचंद्र मानते हैं कि प्रेम की कोई जात–धर्म, कुल, आदि नहीं होता है। प्रेम समाज के नियम, कानून से ऊपर है। वही प्रेमचंद प्रेम को ईश्वरीय वरदान मानते हैं तथा इसके अनादर को पाप समझते हैं। प्रेमचंद का विचार है कि प्रेम का संबंध संसार के बाकी सभी संबंधों से श्रेष्ठ और पवित्र है। दूसरी तरफ शरत् बाबू भी प्रेम को पवित्र मानते हैं। चाहे वह प्रेम वेश्यालय के कोठे के किसी कोने में ही क्यों न पनप रहा हो। यही दोनों लेखकों की महानता है कि इन्होंने कीचड़ में खिले कमल की खुशबू को समाज के केंद्र में रखकर, पूरे समाज को सुभाषित कर दिया है।

साहित्य समाज को प्रतिबिम्बित करता है। परिणामस्वरूप कृति में युगीन परिस्थितियों की स्पष्ट छाप है। प्रेमचंद और शरतचंद्र दोनों की कृतियों में युगीन घटनाक्रमों का व्यापक प्रभाव है। प्रेमचंद ने स्पष्ट कहा है – "साहित्यकार बहुधा अपने देश–काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। और विशाल आत्मा अपने देश बंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।"[2] प्रेमचंद के उपन्यासों का समाज मुख्यतः निम्न मध्यवर्ग का समाज है। यह वर्ग हर तरह के संघर्षों में लीन है। प्रेमचंद-अपने उपन्यासों में निम्नवर्गीय परिवारों का वाह्य संघर्ष सामंती समाज में इन पर हो रहे अत्याचार,

गरीबी, भुखमरी से पीड़ित, शोषित जनता का चित्रण किया है। शरत्चंद्र विस्तृत सामाजिक जीवन की अपेक्षा पारिवारिक जीवन पर अधिक केंद्रित रहे हैं।

प्रेमचंद और शरतचंद्र ने समाज की उन मान्यताओं का समर्थन किया है जो सर्वग्राह्य हों। यूरोपिय संस्कृति के अंधानुकरण करने के दोनों खिलाफ थे। पश्चिमी सभ्यता का सब कुछ अच्छा है इसे दोनों लेखक मानने को तैयार न थे।

पात्र के चरित्र चित्रण में दोनों लेखकों की दृष्टि भिन्न है। प्रेमचंद के उपन्यासों में पात्र मानों अपने वर्ग का प्रतिनिधित्य करता है। इस प्रकार पात्र की समस्या पात्र की निजी न होकर पूरे वर्ग की समस्या बन जाती है। 'गोदान' में होरी की समस्या होरी की न होकर, पूरे उत्तर भारत के कृषक वर्ग की समस्या बनकर पाठक के समक्ष उभरती है। अतः प्रेमचंद के उपन्यासों में वर्ग–संघर्ष उद्घाटित किया गया। शरत्चंद्र के उपन्यासों में व्यक्ति की आत्म–पीड़न का भिन्न–भिन्न रूपों में चित्रण हुआ है। शरत्चंद्र ने आर्थिक –पीड़न का चित्रण नहीं कियाहै, जबकि प्रेमचंद का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास 'गोदान' आर्थिक त्रासदी पर आधारित है। डा. सुबोध सेन गुप्त का कथन है -- "शरत्चंद्र ने समाज–शक्ति पर चोट की है। प्रधान तथा उसकी नीति की ओर से, अर्थ–नीति की ओर से उतना आघात नहीं किया है। हमारा देश दरिद्रता से पीड़ित है और इस दैन्य का हाहाकार उनकी रचनओं में प्रकट न हुआ हो यह बात भी नहीं है। किंतु उनकी रची हुई अधिकांश प्रणय की कहानियों में दारिद्रय के पीड़न का परिचय नहीं है।"[3] मार्क्स ने आर्थिक वर्गों का विरोध किया है। उन्हें विश्वास था कि सामाजिक परिवर्तन मुख्यतः आर्थिक वर्ग

संघर्षों से स्थिर हुए हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों में युगीन आर्थिक स्थितियों का स्पष्ट चित्रण हुआ है। आर्थिक जटिलताओं से उत्पन्न वर्ग संघर्ष का चित्रण, प्रेमचंद ने बड़े मार्मिक ढंग से किया है। प्रेमचंद के उपन्यासों में एक तरफ जहां कृषक जमींदार से संघर्षरत हैं वहीं मजदूर पूंजीपतियों से संघर्षरत है। शरत्चंद्र किसानों के संघर्षों को ग्रामीण–समाज के समस्याओं के अंतर्गत चित्रण करते है। ग्रामीण समाज में व्याप्त निर्धनता, अशिक्षा आदि का चित्रण शरत्चंद्र ने किया है।

उत्तर प्रदेश और बंगाल की सामाजिक परिस्थितियों में भिन्नता अवश्य थी, किंतु इन दोनों समाज में राजनैतिक व्यवस्था में कोई खास अंतर नहीं रहा है। दोनों प्रदेशों में सामंतवाद का बोलबाला था। प्रेमचंद के उपन्यासों में सामंती शोषण तले पिसते कृषक वर्ग की करुण गाथा का चित्रण है। शरतचंद्र के उपन्यासों में सामंती समाज में वैयक्तिक समस्याओं से बंधे हुए मानव हृदय का चित्रण है। किसानों पर हो रहे अत्याचार, शोषण का चित्रण शरत्चंद्र के यहां उस प्रकार से नहीं है जिस प्रकार से प्रंमचंद ने वर्णन किया है।

इस प्रकार से भारतीय समाज में चल रहे 'मुक्ति संघर्ष' को दोनों कलाकार, अपनी–अपनी दृष्टियों से देख रहे थे। स्वाधीनता संग्राम को लेकर दोनों में सैद्धांतिक मतभेद अवश्य हो सकते हैं, किंतु व्यवहारिक स्तर पर दोनों काफी निकट थे। दोनों कलाकार गांधीवादी थे और गांधी के आदर्शों से काफी प्रभावित थे किंतु गांधीवादी दर्शन, विचारधारा को दोनों ने अपनी–अपनी दृष्टि से दृष्टिपात किया है, पश्चात साहित्य में अवतरित किया है। प्रेमचंद के उपन्यासों में गांधीवादी विचारधारा

जस का तस उतरी है, जबकि शरत्चंद्र में हम गांधीवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति सार रूप में पाते हैं। प्रेमचंद के पात्र गांधीवादी उसूलों के नायक हैं, वह चरखा कातते हैं, सत्याग्रह करते हैं यथास्थान गांधीवादी आदर्शों का प्रचार भी करते चलते हैं। जबकि शरतचंद्र के पात्र गांधीवादी विचारों को यथास्थान प्रकट करते चलते हैं।

प्रेमचंद भारतीय संस्कृति के समर्थक थे। उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति का विरोध किया है। उनकी कहानियों और उपन्यासों में यह तथ्य ध्वनित होता है। दूसरी तरफ शरतचंद्र के यहां दोनों संस्कृतियों के द्वन्द्व को देखा जा सकता है। उन्होंने एक ओर जहां दोनों संस्कृतियों की बुराईयों की कटु आलोचना की है। वहीं उनकी अच्छाईयों का स्वागत किया है। 'शेषप्रश्न' में 'कमल' और 'आशुबाबू' के जरिए यह द्वन्द्व साफ देख सकते हैं। 'कमल' एक तरफ जहां भारतीय संस्कृति की आलोचना करती है वहीं आशुबाबू के जरिए भारतीय संस्कृति की अच्छाईयों को उद्घाटित किया गया है। लोकसंस्कृति का चित्रण दोनों कलाकारों ने बखूबी किया है। शरतचंद्र ने गांव के वातावरण का चित्रण बहुत कम किया है फलतः लोक संस्कृति का चित्रण शरत्चंद्र के यहां कम है। दूसरी तरफ प्रेमचंद ग्रामीण कथाकार है। उनके उपन्यासों में ग्रामीण वातावरण अपनी संपूर्णता में उपस्थित हुआ है। प्रेमचंद की सहानुभूति भारतीय ग्रामीण परिवेश से अधिक रही है। अतः लोक संस्कृति के दृश्य, प्रेमचंद के उपन्यासों में अधिक हैं। ग्रामीण जीवन की संध्या – क्रीड़ा, चौपाल आदि का सुंदर, सुनियोजित वर्णन प्रेमचंद के यहां पाते हैं। शरतचंद्र की दृष्टि

मध्यवर्ग की समस्याओं को अंकित करने की ओर रही है। अतः मध्यवर्ग की संस्कृति द्वन्द्वों का चित्रण शरतचंद्र के यहां अधिक है।

प्रेमचंद एवं शरतचंद्र दोनों के उपन्यासों में धार्मिक कुरीतियों का खण्डन हुआ है। 'गोदान' में प्रेमचंद ने धार्मिक शोषण के नग्न रूप चित्रित किए हैं। शरतचंद्र ने 'पथ के दावेदार' में अपूर्व को एक शुद्धाचारी ब्राह्मण के रूप में दर्शाया है जो ईसाई के स्पर्श का भोजन भी नहीं करना चाहता, अपूर्व के संस्कारों में बंगाल की रूढ़ परंपराओं को देखा जा सकता है।

प्रेमचंद और शरतचंद्र दोनों लेखकों ने अपने उपन्यासों में यथार्थ स्वरूप को चित्रित किया है। प्रेमचंद उपन्यास को मानव चरित्र का दर्पण मानते हैं। शरतचंद्र के विचार से भी उपन्यास मानव हृदय के आकांक्षाओं का उन्मुक्त वर्णन है। उन्होंने कहा कि मनुष्य के यथार्थ स्वरूप को अगर पहचानना हो तो उसके लिए साहित्य एक उपयुक्त सामग्री है। प्रेमचंद साहित्य को समाज में आलोकित करने की मशाल मानते हैं। वे कहते हैं – "साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊंचा है। वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए।"[4]

'पथेरदाबी' राजनीतिक दृष्टि से लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि में सन् 1920–25 के स्वाधीनता आंदोलन की गूंज सुनाई पड़ती है। लगभग

इसी समय उग्रपंथी आंदोलनकारी अपने पूरे उफान पर थे। भगतसिंह, चित्तरंजनदास, चंद्रशेखर जैसे लोग क्रांतिकारी आंदोलन को नेतृत्व प्रदान कर रहे थे। शरत्चंद्र का स्नेह देश के लिए कार्य कर रहे प्रत्येक व्यक्ति पर था, चाहे वह हिंसावादी हो या अहिंसावादी, 'पथेरदाबी' में शरत्चंद्र ने 'सव्यसाची' के माध्यम से विप्लवियों के जीवन, उद्देश्य आदि को दर्शाया है। 'सव्यसाची' (उपन्यास का नायक) एक विप्लवी है। स्वाधीनता ही उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य है।

शरत्चंद्र कोई दार्शनिक नहीं थे। जीवन के परम सत्य का आविष्कार करना, विश्लेषण करना, प्रमाण करना आदि उनका कार्य नहीं था। यद्यपि उन्होंने समस्यामूलक उपन्यासों का ही सृजन किया है, किंतु उन्होंने समस्याओं का समाधान देने की कोई चेष्टा नहीं की है। और अगर की भी है तो उसे अपने संपूर्णता में कहकर कभी भी हृदयंगम नहीं किया है। शरत्चंद्र एक स्रष्टा हैं, उन्होंने जीवन के चित्रों का अंकन किया है – कल्पना और अनुभूति के द्वारा उन्होंने उसका मूल्य विचार नहीं किया है। एक सच्चे साहित्यकार का कार्य मूल्यों पर विचार करना है भी नहीं, उनका कार्य है समाजोन्मुख साहित्य का सृजन करना। शरत्चंद्र एक ऐसे ही कलाकार हैं। उन्होंने 'पथेरदाबी' जैसी रचनाओं के सृजन की आवश्यकता को समझा तथा निडर होकर समाज के हित में उन्होंने इसका सृजन किया। 'पथेरदाबी' शीर्षक की भी एक सार्थकता है। यह शीर्षक दर्शाता है कि मनुष्य को जीवन पथ पर अपने अनुसार चलने का पूरा अधिकार है। और जो इस अधिकार का हनन करे वह अत्याचारी ही नहीं अन्यायी भी है। कथा नायक सव्यसाची कहता है – "जीवन यात्रा

के पथ पर चलने का मनुष्य को कितना बडा अधिकार है; संस्था के सदस्य, अपना सारा जीवन लगाकर, यही बात मनुष्य को बता देना चाहते हैं।"[5] 'पथेरदाबी' विप्लवियों का उपन्यास है इसमें कोई संदेह नहीं है। किंतु इस उपन्यास का उद्देश्य विप्लव प्रचार करना नहीं है। डाक्टर 'सव्यसाची' के जीवन का अधिकांश भाग हमारे सामने गुप्त है, किंतु हमें जितना परिचय प्राप्त हुआ है उससे पता चलता है कि उनके जीवन में आदर्शों के प्रति निष्ठा है। अपने जीवन के सर्वस्व सुख त्याग कर डाक्टर एकाग्र होकर देशमुक्ति के लिए तल्लीन रहते हैं। डाक्टर की जिंदगी में कहीं विश्राम नहीं है, न ही उनके जीवन में रागात्मक संबंधों के लिए कोई जगह है। 'पथेरदाबी' का सभा नेत्री डाक्टर को असमी प्रेम करती है वह अपना सर्वस्व त्यागकर डाक्टर के शरण में आयी थी, किंतु डाक्टर के लक्ष्य के सामने ऐसे संबंधों के लिए कोई जगह नहीं है। जब भी देश के कार्य के लिए डाक्टर का आह्वान किया गया, उन्होंने सुमित्रा की अवहेलना कर, अपने कार्य में अग्रसर हुए हैं। अपने कर्तव्य पथ से वह कभी भी पीछे नहीं हटे हैं। कर्तव्य पथ पर डाक्टर कभी चेतना भ्रष्ट नहीं हुए है। अंतिम अध्याय में विप्लयिों के त्याग, निष्ठा आदि सभी का स्पष्ट चित्र सार्थक और जीवंत हो उठा है। अंतिम अध्याय में कथा को केवल समाप्ति ही नहीं प्रदान किया गया है, बल्कि उपन्यास का तात्पर्य इसके अंतः पक्ष से प्रकाशित हो उठा है। उपन्यास का उद्देश्य, प्रतीकार्थ, सांकेतिकता सभी अंतिम अध्याय में स्पष्ट लक्षित होता है। सुमित्रा, भारती, शशि ने डाक्टर को रोकने की कोशिश की,

किंतु डाक्टर हीरासिंह को साथ लेकर तूफान की परवाह न करते हुए अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर हुए।

'पथेरदाबी' रचना में जो त्रुटियां हैं उसकी भी चर्चा करना अतिआवश्यक हैं। उपन्यास का नायक 'सव्यसाची' जिसके चरित्र को व्यापक, भव्य रूप में, चित्रित किया गया है, उसके निजी जीवन रहस्य को संपूर्ण रूप से उद्‌घाटित नहीं किया गया है। 'सव्यसाची' अपने कार्यकलाप की विधि किसी को प्रकाशित नहीं करते हैं। वर्मा में वे कुछ दिनों के लिए आए थे और सुमित्रा द्वारा संगठित संगठन 'पथेरदाबी' को एकजुट करने में उन्होंने सुमित्रा की सहायता की। सव्यसाची के कार्य करने के प्रकार कैसे हैं? यह जानने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। एकमात्र हीरा सिंह सव्यसाची के क्रियाकलापों के बारे में जानते हैं, किंतु हीरा सिंह ने कभी भी पाठकों के समक्ष यह जाहिर नहीं किया है। वह केवल सव्यसाची को गोपनीय संदेश देता है। उपन्यास में जब भी उसकी आवश्यकता होती है, वह अचानक उदित होते हैं। डाक्टर की निजी जिंदगी के बारे में तथ्यों का प्रकाश उन्होंने भी नहीं किया है। 'पथेरदाबी' के सदस्यों में 'कृष्ण अय्ययर' और सुमित्रा डाक्टर के पुरातन साथी हैं, उपन्यास के कुछ स्थलों पर इसका आभास होता है। उनके पास डाक्टर के बारे में कुछ ज्ञान अवश्य है किंतु वह ज्ञान सतही हैं।

उपन्यास में एक और तथ्य लक्षित होता है कि सव्यसाची का संबंध विश्व के प्रायः सभी प्रमुख देशों से रहा है। जापान, चीन, सिंगापुर, वर्मा यहां तक कि उन्होंने 'पैसिफिक द्विपों' का भी भ्रमण किया है और अमरीका का भी दर्शन कर आए हैं, इन

स्थलों पर उनके गुप्त समितियों के बारे में तथा इन समितियों के साथ भारत की स्वाधीनता आंदोलन के संबंधों पर उपन्यास में कोई घटना या संकेत नहीं है। कुछ एक स्थलों पर डाक्टर ने स्वयं अपने मुख से चमत्कार पूर्ण घटनाओं का वर्णन किया है, किंतु ऐसे घटनाओं का समग्र स्वरूप हमारे समक्ष लुप्त है। सिंगापुर आगमन के पीछे डाक्टर का मूल उद्देश्य क्या है? उनके आगमन से भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का क्या संबंध है यह उपन्यास में स्पष्ट वर्णित नहीं है।

सुमित्रा 'पथेरदाबी' का प्रेसिडेंट है। किंतु विप्लवी संगठन के इस नेत्री का भारतवर्ष से कोई संबंध नहीं है। उनके पिता बंगाली तथा माता यहूदी थीं, पहले–पहल वह 'अफीम' का धंधा करती थी, पश्चात डाक्टर के प्रभाव में आकर उन्होंने अपना सर्वस्व त्यागकर देश सेवा में लीन हो गयी। अंत में सुमित्रा विपुल संपत्तियों का अधिकारी बनती है और जाभा में लौट जाती है। सुमित्रा का जो चरित्र लेखक ने पाठक के समक्ष उपस्थित किया है उससे लेखक की कलाबाजी को साफ देखा जा सकता है। चरित्र चित्रण में ओजता होने के साथ–साथ विप्लवी होने के सारे गुण मौजूद हैं! किंतु भारतवर्ष के स्वाधीनता आंदोलन से उनका आंतरिक योग को लेखक दर्शाने में सक्षम नहीं हो पाए हैं। कथा चमत्कार के फेर में उपन्यासकार ने चरित्रों को अस्पष्ट कर दिया है।

प्रत्यक्ष रूप से 'पथेरदाबी' में किसी आंदोलन के प्रभाव को देख पाना मुश्किल है, पर यह सत्य है कि यह उपन्यास उस समय के बंगाल के नवयुवकों को आंदोलित कर दिया था। क्रांतिकारियों ने धर्मग्रंथों के स्थान पर इस उपन्यास को

जगह दी और 'सव्यसाची' के भव्य चित्रण, उनके आदर्शों को ही अपने आदर्शों में ढालने की कोशिश की। इस प्रकार इस उपन्यास में कोई विशेष आंदोलन की झलक न होने पर भी बंगाल के तरुणों को अपने प्रभाव में ले लिया। बात यहां तक बढ़ गयी कि सरकार को भी जल्द ही इस पर कार्यवाही करनी पड़ी। और पुस्तक प्रकाशन के 20 दिनों के अंदर ही इसे सरकार ने जब्त कर लिया। शरत्चंद्र इस उपन्यास का दूसरा भाग लिखना चाहते थे। बंगाल के नवयुवकों के जोश को देखकर शरतबाबू भी चुप न बैठे किंतु ऐसी क्रांतिकारी उपन्यास जो मात्र 20 दिनों में सरकार की नींद हराम कर दिया हो उसके दूसरे भाग प्रकाशित होने का तो कोई सवाल ही नहीं था।

"संसार की बहुत सी जातियां स्वाधीन हैं – उससे बढ़कर दूसरा कोई गौरव मानव–जन्म के लिए नहीं है।"[6] संपूर्ण उपन्यास मानव जन्म के इसी गौरव को व्याख्यायित करता है और विद्रोह के लिए मन को आंदोलित करता है।

जटिल समस्याओं के चित्रकार होने के कारण शरतचंद्र के भाषाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या होती रही है, पर इस उपन्यास में ऐसी कोई बात नहीं है। 'पथेरदाबी' की भाषा सरल, ओजपूर्ण है। बंगला साहित्य ओलोचकों ने रवींद्रनाथ के साथ–साथ शरतचंद्र के साहित्य के लिए बौद्धिक पाठक होने की अनिवार्यता को स्वीकृत किया है, किंतु 'पथेरदाबी' के बारे में ऐसी कोई स्वीकृति पर एकमत होना, उपन्यास के साथ अन्याय करना होगा। 'पथेरदाबी' का पाठक कोई भी हो सकता

है। भाषा, कथ्य की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि 'पथेरदाबी' भारत की जनता का उपन्यास है।

'पथेरदाबी', पाठकों के समक्ष अंग्रेजी शासन, के नग्न रूप को चित्रित करता है। सव्यसाची के बातों से ब्रिटिश शासन का वास्तविक दृश्य पाठक के समक्ष उपस्थित हो जाता हैं – "कभी इस बात पर भी तुमने विचार किया? शिल्प गया, वाणिज्य गया, धर्म गया, ज्ञान गया, नदियों की छाती सूखकर मरुभूमि बनती जा रही है। किसान भर पेट अन्न खाने को नहीं पाता, शिल्पकार विदेशियों के द्वार पर मजदूरी करता है – देश में जल नहीं, अन्न नहीं, गृहस्थ की सर्वोत्तम संपदा गोधन भी नहीं! दूध के अभाव में उनके बच्चों को मरते देखा है भारती।"[7]

स्वाधीनता के प्रश्नों के अलावा 'पथेरदाबी' में कुछ सामाजिक प्रश्नों को भी उद्घाटित किया गया है। अपूर्व एक रूढ़ ब्राह्मण घर का बेटा है। वह दूसरी जाति के व्यक्ति का छुआ भोजन ग्रहण नहीं करता। उसमें एक परंपरागत ब्राह्मण के पूरे गुण मौजूद हैं। वह शाम को संध्या किए बिना भोजन नहीं करता। ब्राह्मण घर के संपूर्ण धर्म का पालन अपूर्व स्वेच्छा से करते हैं। भारती ईसाई होने के कारण वह उसके स्पर्श का भोजन तो दूर जल भी ग्रहण नहीं करना चाहता है। पश्चात उसी भारती के हाथों अपूर्व के प्राणों की रक्षा होती है। अपूर्व भारती के हाथों जल सेवन करता है। दोनों में प्रेम संबंध भी स्थापित हो जाता है। शरतचंद्र भारती के मुख से पूरे समाज के समक्ष यह प्रश्न करते हैं कि "यदि म्लेच्छ प्राणदान करे, तो उसमें कोई दोष नहीं;"[8] फिर बाकी चीजों में भेद क्यों? उस समय बंगाल के समाज में

धार्मिक भेद–भाव बुरी तरह व्याप्त था। अपूर्व की मां, अपूर्व को वर्मा नहीं भेजना चाहती है क्योंकि वह देश म्लेच्छों का देश है। उनके रहन–सहन, खाने–पीने का ढंग, सब कुछ अलग है। शरतचंद्र ने समाज में व्याप्त इस ज्वलंत समस्या की ओर दृष्टिपात किया और भारती के मुख से इस रूढ़ परंपरा की आलोचना की।

समग्र रूप में 'पथेरदाबी' को एक राजनीतिक उपन्यास ही कहना उचित होगा। उपन्यास का घटनाक्रम देश में चल रहे राजनीतिक उथल–पुथल की ओर ही संकेत करता है। देश की राजनीतिक व्यवस्था को ही यह उपन्यास ध्वनित करता है। यही इस उपन्यास का लक्ष्य है और सार्थकता भी।

'कर्मभूमि' का 'प्लॉट' राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि पर रचा गया है। प्रेमचंद ने राष्ट्रमुक्ति आंदोलन के साथ–साथ युगीन सामाजिक समस्याओं का भी चित्रण किया है। इस समय भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का अभूतपूर्व विकास हुआ। इस उपन्यास में सन् 20–23 के 'किसान आंदोलन' के प्रभाव को देखा जा सकता है। साथ ही भारतीय समाज में व्याप्त अछूत समस्या से भी हमारा साक्षात्कार होता है। सन् 1929–33 का विश्वव्यापी आर्थिक संकट के प्रभाव को हम 'कर्मभूमि' में देख सकते हैं। उपन्यास में वर्णित सत्याग्रह इत्यादि में गांधीवादी दर्शन के प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

उपन्यास का नायक अमरकांत अपने विद्यार्थी जीवन से ही राजनीतिक आंदोलन से प्रभावित होता है। और राजनीतिक आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेता है तथा जगह–जगह घुमकर 'स्पीच' देता है। "दैनिक समाचार–पत्रों के पढ़ने

से अमरकांत के राजनैतिक ज्ञान का विकास होने लगा देश वासियों के साथ शासक मंडल की कोई अनीति देखकर उसका खून खौल उठता था। जो संस्थाएं राष्ट्रीय उत्थान के लिए उद्योग कर रही थी, उनसे उसे सहानुभूति हो गयी। वह अपने नगर की कांग्रेस कमेटी का मेंबर बन गया और उसके कार्यक्रम में भाग लेने लगा।"[9]

कर्मभूमि में ब्रिटिश हुकूमत के नग्न यथार्थ का वर्णन हम मुन्नी के प्रसंग में देखते हैं। एक भोली–भाली ग्रामीण स्त्री की इज्जत पूरे गांववालों के सामने अंग्रेज सैनिक लूट रहे थे। इज्जत का हनन स्त्रियों को न केवल शारीरिक बल्कि मानसिक रूप से भी पंगु बना देता है। खासकर ऐसी स्त्रियों के लिए जिसको समाज एक बार पवित्रता खोने पर दोबारा स्वीकार नहीं करना चाहता है। भारतीय समाज ऐसा ही रूढ़ परंपरावादी का शिकार है। यहां का कानून भले ही बलात्कार को हादसा कहता हो, किंतु स्त्रियों के लिए यह किसी उम्र कैद की सजा से कम नहीं है। उम्र कैद इसलिए क्योंकि, यहां बलात्कारी स्त्री को अपनी बाकी जिंदगी अपने ही नजरों में नजरबंद होकर रहना पड़ता है। प्रेमचंद ने यहां एक खास प्रसंग को शामिल किया है वह प्रसंग है मुन्नी के पति का जो बलात्कार होने के बावजूद मुन्नी को न केवल अपने घर में बल्कि समाज में उसे यथा स्थान देने को तत्पर है। इस प्रकार प्रेमचंद ने इस उपन्यास में मुन्नी के प्रसंग से नारी को समाज में उसका यथास्थान दिलाने की मांग को मुखरित किया है।

उपन्यास में दूसरा प्रसंग अछूत समस्या को लेकर है। गांव के धनी वर्ग मंदिरों में दलितों का प्रवेश निषेध कर रखा था। भारतीय रूढ़िगत समाज की यह

भी एक प्रमुख समस्या है, यहां पूजन–अर्चन भी सर्वसुलभ नहीं है। 'कर्मभूमि' के दलित पात्र अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत होते हैं। 'ब्रह्मचारी' जी उनके मार्ग में बाधा सृष्टि करते हैं। लाला समरकांत के रूप में धनी वर्ग भी उसके साथ है। दलित भक्तों को जूते से मारा जाता है। फलतः दलित आंदोलन उग्र रूप धारण कर लेता है। कुछ शिक्षित लोग उन्हें मार्ग प्रशस्त करते हैं। (जैसे कि डॉ. शांति कुमार) एक लंबे संघर्ष के बाद दलित आंदोलन सफल होता है। लाला समरकांत अंतत सुखदा से कहते हैं कि मंदिर का द्वार सबके लिए खोल दिया गया है। दलित आंदोलन के पीछे सन् 1925–30 तक के अम्बेडकर आंदोलन के प्रभाव को देखा जा सकता है। सन् 1924 में केरल के वायकोम में तथा1931 में गुरुवयूर के मंदिरों में अछूतों के प्रवेश का आंदोलन सफल न होने के कारण दलित विद्रोह उस समय काफी तीव्र और उग्र हो उठा था। निश्चित रूप से प्रेमचंद पर इसका प्रभाव पड़ा होगा। अपने वक्तव्य में प्रेमचंद कहते हैं – "हमारा कर्तव्य तभी पूरा होगा, जब हम देश के वर्तमान अछूतपन को जड़मूल से नष्ट कर देंगे। ... क्या कोई भी वर्णाश्रम अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि वास्तव में यह छुआछूत उन्हें धर्म की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है? नहीं ? कोई भी यह नही कह सकता। एक स्वार्थ ही इसका कारण है। पर याद रहे, यह इस समय का स्वार्थ,

वर्ष दो वर्ष चाहे उनकी छाती को ठंडा भले ही कर दे, पर आगे वह उनकी पुरानी से पुरानी, दृढ़ से दृढ़ बुनियाद को भी उखाड़ फेंकेगा। वे स्वार्थ के जिस सुंदर खिलौने से बच्चों की तरह खिलवाड़कर रहे हैं, वह असल में डायनामाइट है,

जो उनकी सात पुश्तों को ध्वस्त कर डालेगा। इसे दूर फेंक देना चाहिए, वरना फिर पश्चाताप का भी समय न मिलेगा।[10]... हमको दिल से यह भाव संपूर्णतः निकाल डालना होगा कि हम उनसे ऊंचे हैं। हमने केवल पशुबल से उनके अधिकारों का अपहरण कर लिया है। हम उनसे बलवान हो सकते हैं, पर ऊंचे कदापि नहीं। बल नैतिक दृष्टि से उच्चता का बोधक नहीं। ... थोड़े से शास्त्रोपजीवी लोगों को छोड़कर सारा हिंदू समाज हरिजनों के मंदिर प्रवेश के पक्ष में"[11] है।

सन् 1929–33 में भारतीय कृषक की स्थिति काफी दयनीय थी। यही वह समय था जब पूरा विश्व आर्थिक मंदी के दौर से गुजर रहा था। भारतीय कृषक भी इससे अछूते न रह सके। ऊपर से ब्रिटिश साम्राज्यवादी सर्वग्रासी नीतियों ने इनकी कमर तोड़ दी थी। कर्मभूमि का एक पात्र कहता है "लेकिन इस साल अनायास ही जिंसों का भाव गिर गया। इतना गिर गया, जितना चालीस साल पहले था। जब भाव तेज था, किसान अपनी उपज बेच–बाच कर लगान दे देता था, लेकिन जब दो और तीन की जिंस एक में बिके तो किसान क्या करें? कहां से लगान दे, कहां से दस्तूरियां दे, कहां से चुकाए? विकट समस्या आ खड़ी हुई और यह दशा कुछ इसी इलाके की न थी। सारे प्रांत, सारे देश यहां तक कि सारे संसार में यही मंदी थी।"[12] इस मंदी की स्थिति में भी उनसे (किसान से) बड़ी सख्ती से कर वसूल किए जाते थे। उपन्यास में किसान वर्ग आपस में सलाह–मश्वरा कर महंत जी से लगान आधा करने की अपील करते हैं, किंतु इसका कोई असर नहीं पड़ता है। अंतत उमाकांत उग्र आंदोलन का आह्वान करता है। पर इसका भी कोई सफल

परिणाम नहीं निकल पाता है। आंदोलन को सरकार बेदर्दी से कुचल देती हैं। 'किसान आंदोलन के पीछे भी सन् 1928 के बारदोली के किसान आंदोलन के प्रभाव को देखा जा सकता है। सविनय अवज्ञा आंदोलन में भी कर न देने का आंदोलन हुआ था।

'कर्मभूमि' में शहरी मेहनतकश लोगों के घर बनाने के लिए जमीन की मांग पर भी एक आंदोलन चलता है जिसमें शहर के सारे पात्र समरकांत, सुखदा, नैना, सकीना आदि सभी हिस्सा लेते हैं और सभी बारी–बारी जेल जाते हैं। एक लंबे संघर्ष के बाद यह आंदोलन सफल होता है। 'म्युनिसिपैलिटी जनता के मांगों को अंततः स्वीकार कर लेती है।

कर्मभूमि में तत्कालीन ऐतिहासिक परिदृश्य साकार हो उठा है। हड़ताल व सत्याग्रह की रणनीति का प्रयोग लेखक अपनी कथा में वर्णित आंदोलनों के आयोजन में करता है। इतना ही नहीं, कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों यथा सूत कातना, अछूतों के बीच काम करना तथा स्कूल चलाना ये सब इस उपन्यास में देखे जा सकते हैं। अमरकांत और समरकांत क्रमशः देश की प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी, आधुनिक तथा परंपरावादी शक्तियों के प्रतीक हैं। इनका आपसी टकराव देश की सामाजिक बदलाव की शक्तियों और परंपरावादी शक्तियों के बीच टकराव का प्रतीक है। इस टकराव का नतीजा परंपरावादी शक्तियों की पराजय के बजाय उनके हृदय परिवर्तन में होता है। उपन्यास के अंतिम दौर में लाला समरकांत

का हृदय परिवर्तन होता है और वह भी राष्ट्रमुक्ति आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं तथा जेल यात्रा करते हैं।

दलितों की समस्या को प्रेमचंद, गांधीजी की तरह छुआछूत की समस्या मानते थे। 'कर्मभूमि' का एक दलित पात्र काशी कहता है – "सारी दुनिया हमें इसलिए अछूत समझती है कि हम दारु–शराब पीते हैं, मुरदा मांस खाते हैं और चमड़े का काम करते हैं।"[13]

सेवासदन में समाजसुधार की चेतना वैयक्तिक और असंगठित है। 'कर्मभूमि' में आकर वह चेतना संगठित होकर राजनैतिक रूप ग्रहण कर लेती है। सेवासदन में समाज के उद्धार का प्रयास है, 'कर्मभूमि' में जनता के अधिकार का प्रश्न है। दोनों उपन्यासों में यह फर्क एक को सामाजिक तथा दूसरे को राजनैतिक होने का दर्जा प्रदान करता है।

'कर्मभमि' के स्त्री पात्र भी काफी सचेत और प्रखर है। राष्ट्रीय आंदोलन में सभी स्त्री पात्र बढ़–चढ़कर हिस्सा लेती हैं। सुखदा, नैना, मुन्नी, बुढ़िया, पठानिन, रेणुका सभी राष्ट्रीय आंदोलन में अपना योगदान देती हैं। सुखदा धर की चार दीवारी में कैद होने वाली पारंपरिक भारतीय नारी नहीं है, अमरकांत के कर्तव्य परायण न होने के कारण वह प्रो. शांतिकुमार से प्रश्न करती है "ऐसे पुरुष जो स्त्री के प्रति अपना धर्म न समझे क्या अधिकार है कि वह स्त्री से व्रतधारिणी रहने की आशा रखे?"[14] सुखदा का प्रश्न एक शिक्षित स्त्री का प्रश्न है।

'कर्मभूमि' में युगीन समाज की साफ झाकियां मिलती हैं। प्रेमचंद ने मानों सारे सामाजिक रूढ़ि अत्याचार के रूप को संगठित कर सुनियोजित रूप में 'कर्मभूमि' में रचनात्मक ऊर्जा प्रदान कर दी हो। प्रेमचंद का स्वदेश प्रेम 'कर्मभूमि' की कथा में साफ दृष्टिगोचर होता है।

'कर्मभूमि' की त्रुटियों पर भी अब विहंगावलोकन कर लेना चाहिए। कर्मभूमि में कई पात्र हैं, सभी पात्र अंततः एक लक्ष्य, उद्देश्य को लेकर संघर्षरत हो जाते हैं। पात्रों में नाटकीय परिवर्तन होता है। जैसे की लाला समरकांत का हृदय परिवर्तन। पात्रों में अचानक हृदय परिवर्तन होने से उपन्यास एक नाटक जैसा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उपन्यास के पात्र उपन्यास में अपने विचारों से अधिक प्रेमचंद के निजी आदर्शवाद का वाहक है। फ्रेडरिक एंगेल्स ने 26 नवंबर 1853 को मिन्नाकाउत्सकी को एक पत्र में लिखा है "मैं सोचता हूं कि प्रयोजन को स्वयं परिस्थिति तथा कार्यकलाप में अपने को व्यक्त करना चाहिए, विशेष रूप से लक्षित किए बिना, और लेखक अपने द्वारा वर्णित सामाजिक टकरावों का भावी ऐतिहासिक समाधान पाठक के सामने तैयार शुदा रूप में प्रस्तुत करने के लिए कर्तव्यबद्ध नहीं है।"[15] प्रेमचंद का उपन्यास कर्मभूमि विशेष रूप से इस समस्या से ग्रस्त है जिसकी ओर एंगेल्स ने इशारा किया है। लेखक अपने पात्रों को अपने विचारों का प्रतिनिधि बनाकर प्रस्तुत करे, यह बतौर उपन्यासकार उसकी विफलता है। 'कर्मभूमि' में प्रेमचंद इस समस्या का शिकार बने हैं।

प्रेमचंद ने कथा को सोद्देश्यता प्रदान करने के चक्कर में पात्रों के चरित्र में नियंत्रण अधिक कर दिया है। फलतः उनका स्वाभाविक विकास अवरूद्ध सा हो गया है। और उपन्यास खण्ड–खण्ड में बिखरे हुए से लग रहे हैं। डा. शैलेश जैदी लिखते हैं "उपन्यास के पात्रों में आंदोलन की ललक तो है, किंतु वह उनके भीतर की वस्तु नहीं प्रतीत होती। उपन्यास की सोद्देश्यता कथानक पर सर्वत्र हावी हो गयी है फलस्वरूप खण्ड–खण्ड बिखरे हुए सुंदर युग चित्र को कर्मभूमि में मिल जाते हैं, किंतु एक सहज विकसित कथा का अभाव खटकता है... कर्मभूमि का कथानक आवश्यक रूप से निर्मित प्रतीत होता है और उसका विकास प्रणोदित एवं सप्रयास है। उसकी गति मंद है और अनावश्यक यांत्रिक विस्तार से ग्रस्त है। उपन्यास के शीर्षक से जो आशा बंधती है, उपन्यासकार उसे पूरा करने में असमर्थ है। नायक की मान्यताएं उपन्यास के अन्य प्रमुख पात्रों के समक्ष दब सी गई हैं, अनेक घटना बिंदुओं के अप्रासंगिक विस्तारण से उसके व्यक्तित्व का सहज विकास रूक गया है। सुंदर, रोचक, आकस्मिक सनसनी खेज घटनाएं पाठक को आकृष्ट तो करती हैं, किंतु वह आकर्षण देर तक नहीं बना रहता। संयोग के जीनों पर कथा चढ़ती उतरती रहती है, और उसका पर्यावसान भी संयोग बनकर रह जाता है।"[16] जेल में एकाएक सभी पात्रों का मिलन भी एक संयोग ही है। बल्कि इसे प्रेमचंद का यूटोपिया ही कहा जाएगा। मुन्नी, सुखदा, समरकांत, अमरकांत आदि सभी जेल में मिलते हैं और वहीं उपन्यास का सुखद अंत होता है। इस प्रकार कर्मभूमि के पात्र

प्रेमचंद के उद्‌देश्य का वाहक बनकर रह जाता है, फलतः कथा का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है।

दरअसल, प्रेमचंद ने कर्मभूमि में एक युग को चित्रित किया है। उनके पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि बनकर सामने आते हैं। ऐसी स्थिति में पात्रों के वयैक्तिक विकास मंद पड़ जाना स्वाभाविक ही है। प्रेमचंद का प्रत्येक पात्र सोद्‌देश्य चित्रित है।

"प्रेमचंद की श्रेष्ठता उनकी देशभक्ति में है, उनकी राष्ट्रीय सद्‌भानाओं में है, उनकी भारतीयता में है। वे भारतीय जीवन–दर्शन के पोषक हैं, भारतीय इतिहास के निर्माता हैं, भारतीय समाज के चित्रकार हैं, भारतीय राजनीति के व्याख्याता हैं, उनके उपन्यासों में भारतीय मिट्‌टी की सुगंध है। वे सच्चे अर्थों में भारत के टाल्स्टाय हैं। जो साहित्यकार अपनी धरती से प्रेम नहीं कर सकता उसकी श्रेष्ठता संदिग्ध हो जाती है।"[17] प्रेमचंद एक गंभीर साहित्यकार है उनकी नजर में साहित्य समाज का पथप्रदर्शक है।

संदर्भ

1 श्रीकांत (तृतीय पर्व) पृ.96

2 हंस, अप्रैल, 1932

3 शरत् प्रतिभा, डॉ. सुबोधचंद्र सेन गुप्त, पृ.25–26

4 साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचंद, पृ.58

5 पथेरदाबी, शरत्चंद्र, पृ.97

6 वही, पृ.219

7 वही, पृ.225

8 वही, पृ.34

9 कर्मभूमि, प्रेमचंद, पृ.21

10 विविध प्रसंग, भाग–2, पृ.441

11 विविध प्रसंग, भाग–2, 'पावन तिथि' पृ.452

12 कर्मभूमि, प्रेमचंद, पृ.218

13 वही, पृ.170

14 वही, पृ.214

15 साहित्य तथा कला – मार्क्स एंगेल्स, पृ.104

16 प्रेम चंद की उपन्यास यात्रा – नवमूल्यांकन – शैलेष जैदी, पृ.318

17 वही, पृ.481

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ सूची

कर्मभूमि – प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशंस, 2004

पथेरदाबी – शरत्चंद्र, (अनुवादक रवि केसरी), 1996

सहायक ग्रंथ सूची

कुमार, जैनेंद्र – एक कृति व्यक्तित्व : प्रेमचंद

पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1967

कोठारी, कमल (सं.) – प्रेमचंद के पत्र

अक्षर प्रकाशन दिल्ली, 1970

गोयनका कमल किशोर – प्रेमचंद के नाम पत्र

अनिल प्रकाशन, दिल्ली, 2002

– प्रेमचंद विश्वकोष

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1982

– अध्ययन की नयी दिशाएं : प्रेमचंद

साहित्य निधि प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981

गोयनका कमल किशोर (सं.)– प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य

भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1988

गोपाल मदन – अमर कथाकार प्रेमचंद

राजपत्र प्रकाशन, दिल्ली, 1981

गोपाल मदन – प्रेमचंद की आत्मकथा

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2000

– कलम का मजदूरः प्रेमचंद

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1965

चतुर्वेदी रामस्वरूप – शरत्चंद्र के नारी पात्र

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, 1955

ठाकुर खगेंद्र (सं.) -- प्रेमचंद प्रतिनिधि संकलन

(प्रधान सं. नामवर सिंह) नैशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2002

तिवारी सुरेंद्रनाथ – प्रेमचंद और शरत्चंद्र के उपन्यासः मनुष्य का बिंब

सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली, 1969

तलवार वीर भारत – किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद :1918–1922

नार्दन बुक सेंटर, नई दिल्ली, 1990

द्विवेदी हजारी प्रसाद – हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000 (छठा सं.)

धवन एम. एल. – भारत में राष्ट्रीय आंदोलन

अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 2003

प्रेमचंद – प्रेमचंद के विचार

प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2003

प्रेमचंद – कुछ विचार : साहित्य और भाषा संबंधी कुछ विचार

सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1982

– मानसरोवर, भाग–7

सरस्वती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979

– साहित्य का उद्देश्य

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1992

प्रेमचंद – आखिरी तोहफा

(सं. गिरि राजीव रंजन) (स्वाधीनता आंदोलन से संबंधित कहानियां)

नई किताब प्रकाशन, दिल्ली, 2004

प्रेमचंद – 'कर्बला'

सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1989

– समर यात्रा

सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1980

– सोज़े वतन

एस. के. पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1982

पाण्डेय दयानंद (सं.) – प्रेमचंद वैयक्तित्व और रचना दृष्टि

भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1982

पाण्डेय शशिभूषण – प्रेमचंद हमारे समकालीन

गुरुनानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर, 1986

पाण्डेय मैनेजर – साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका
हरियाणा साहित्य अकादेमी, चंडीगढ,
1989 प्र.सं., 2001 द्वि.सं.

– साहित्य और इतिहास दृष्टि
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
1981 प्र.सं., 2000 द्वि.सं.

– अनभै साँचा
पूर्वोदय प्रकाश्न, दिल्ली, 2002

प्रभाकर विष्णु – आवारा मसीहा
1974

बालिन विक्तर योसिफ्रोविच – कहानीकार प्रेमचंद
(अनु. ईश्वर शरण) अप्रतिम प्रकाशन, दिल्ली, 1993

मिश्र रामदरश (सं.) – कथाकार प्रेमचंद
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1982

मिश्र शिव कुमार – कहानीकार प्रेमचंदः रचना दृष्टि और रचना शिल्प
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002

मुखर्जी विश्वनाथ (सं.) – शरत् समग्र–2, 3
हिंदी प्रचारक संस्थान, दिल्ली, 1990

राय अमृत – कलम का सिपाही
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

राय अमृत – विविध प्रसंग (II)
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962
– प्रेमचंद की प्रासंगिकता
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1985
रहबर हंसराज – प्रेमचंद : जीवन और कृतित्व
आत्माराम प्रकाशन, दिल्ली, 1952
लाल सुंदर – भारत में अंग्रेजी राज, (II)
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
नई दिल्ली, चौथा सं., दिसंबर 2000
शिवरानी देवी – प्रेमचंद घर में
आत्माराम प्रकाशन, दिल्ली, 1981
शर्मा रामविलास – प्रेमचंद और उनका युग
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
शैलेश जैदी – प्रेमचंद की उपन्यास यात्रा : नवमूल्यांकन
यूनिवर्सिटी पब्लिशिंग हाऊस, अलीगढ, 1978
शुक्ल रामचंद्र – हिंदी साहित्य का इतिहास
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2056 वि.
सत्यकाम – आलोचनात्मक यथार्थ और प्रेमचंद
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994

सिंह ओम प्रकाश – प्रेमचंद कथा साहित्य में हिंदू–मुस्लिम संबंध
राधा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1995

सेन गुप्त सुबोध चंद्र – शरत्चंद्र : व्यक्तित्व एवं कलाकार
(अनु. राठी, गिरधर) साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1980

सरकार सुशोभन – बंगला नवजागरण
(अनु. एस.एन. कनूनगो) ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली, 1997

सिंह अयोध्या – भारत का मुक्ति संग्राम
ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2003

सिन्हा डॉ. इंद्र कुमार – प्रेमचंदयुगीन भारतीय समाज
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1974

त्रिपाठी धर्म ध्वज – प्रेमचंद कथा साहित्य : समीक्षा और मूल्यांकन
प्रेम प्रकाशन मंदिर, दिल्ली, 1992

Jawaharlal Nehru University Library